MAPH-112 (N)
बौद्ध दर्शन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–01 मूल बौद्ध दर्शन	**3**
इकाई–1 चार आर्य सत्य	7
इकाई–2 प्रतीत्यसमुत्पाद	15
इकाई–3 अनित्यवाद	26
इकाई–4 अनात्मवाद	36
इकाई–5 निर्वाण एवं बोधिसत्व	41
खण्ड–2 हीनयान दर्शन	**51**
इकाई–6 हीनयान और महायान	55
इकाई–7 हीनयान दर्शन में निर्वाण	66
इकाई–8 वैभाषिक सौतान्त्रिक मतभेद	73
खण्ड–3 शून्यवाद या माध्यमिक दर्शन	**83**
इकाई–9 शून्यवादी का तर्क और दर्शन	85
इकाई–10 द्वन्द्वात्मक तर्क, शून्यता का स्वरुप	93
इकाई–11 अजातिवाद, निर्वाण	101
खण्ड–4 योगाचार या विज्ञानवाद दर्शन	**109**
इकाई–12 वस्तुवाद का खण्डन एवं विज्ञानवाद का मण्डन	113
इकाई–13 विज्ञान परिणाम : आलय विज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान	135
इकाई–14 त्रिस्वभाव एवं निर्वाण	146

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रोफेसर सत्यकाम	कुलपति–अध्यक्ष

विशेषज्ञ समिति

प्रो. सत्यपाल तिवारी	उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो. जटाशंकर (सेवानिवृत्त)	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
प्रो.ऋषिकान्त पाण्डेय	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
प्रो. हरिशंकर उपाध्याय	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
प्रो. दीपनारायण यादव	दर्शनशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

सम्पादक

डॉ. राममूर्ति पाठक	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद डिग्री कालेज

परिमापक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

लेखक

डॉ. प्रबुद्ध मिश्रा	एसोसिएट प्रोफेसर दर्शनशास्त्र, नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. ममता सिंह	एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

मुद्रित– अप्रैल, 2025

@उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2025

ISBN- 978-93-48987-55-6

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा – 281003.

MAPH-112 (N)

बौद्ध दर्शन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–01 मूल बौद्ध दर्शन

इकाई–1 चार आर्य सत्य	7
इकाई–2 प्रतीत्यसमुत्पाद	15
इकाई–3 अनित्यवाद	26
इकाई–4 अनात्मवाद	36
इकाई–5 निर्वाण एवं बोधिसत्व	41

खंड 01 – (मूल बौद्ध दर्शन)

खंड परिचयः

मूल बौद्ध दर्शन भारतीय चिंतन परंपरा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय है। गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित यह दर्शन मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त करता है। यह दर्शन मनुष्य को दुःख से मुक्ति का मार्ग दिखाता है और जीवन को सार्थक बनाने की दिशा प्रदान करता है। बौद्ध दर्शन का प्रारंभ महात्मा बुद्ध के जीवन से जुड़ी उस घटना से होता है, जब उन्होंने चार आर्य सत्यों की खोज की। ये चार आर्य सत्य हैं – दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा (अष्टांगिक मार्ग)। बौद्ध दर्शन का मूल सिद्धांत है कि जीवन दुःखमय है। यह दुःख जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु के रूप में व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त अप्रिय से मिलन, प्रिय से वियोग, इच्छाओं की अपूर्ति आदि भी दुःख के कारण हैं।

बौद्ध दर्शन में दुःख के कारणों की गहन मीमांसा की गई है। तृष्णा को दुःख का मूल कारण माना गया है। तृष्णा से तात्पर्य है वासना, लालसा या कामना। मनुष्य की इच्छाएं अनंत हैं और उनकी पूर्ति असंभव है। इच्छाओं की अपूर्ति से दुःख उत्पन्न होता है। तृष्णा के तीन रूप हैं – काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा। काम तृष्णा विषय–भोगों की लालसा है, भव तृष्णा जीवन की लालसा है और विभव तृष्णा उच्छेद या विनाश की इच्छा है। बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत के अनुसार संसार में कोई भी घटना स्वतंत्र नहीं है, सभी घटनाएं परस्पर संबंधित हैं। एक घटना दूसरी घटना का कारण बनती है और इस प्रकार कार्य–कारण की श्रृंखला चलती रहती है। इस श्रृंखला में बारह कड़ियां हैं, जिन्हें द्वादश निदान कहा जाता है। ये हैं – अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम–रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा–मरण।

बौद्ध दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। बुद्ध ने अनात्मवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उनके अनुसार मनुष्य पंचस्कंधों का समूह मात्र है। ये पंचस्कंध हैं – रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें से कोई भी स्कंध स्थायी नहीं है, सभी क्षणिक हैं। इसलिए इनकी समष्टि को भी स्थायी नहीं माना जा सकता। अतः आत्मा जैसी कोई स्थायी सत्ता नहीं है। बौद्ध दर्शन में क्षणिकवाद का सिद्धांत भी महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत के अनुसार सभी पदार्थ क्षणिक हैं। एक क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जो वस्तु एक क्षण पहले थी, वह दूसरे क्षण में नहीं रहती। इस प्रकार संसार में कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है, सब कुछ परिवर्तनशील है।

दुःख से मुक्ति के लिए बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया गया है। इस मार्ग के आठ अंग हैं – सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। सम्यक् दृष्टि का अर्थ है चार आर्य सत्यों का ज्ञान। सम्यक् संकल्प का तात्पर्य है संसार से विरक्ति और प्राणियों के प्रति मैत्री भाव। सम्यक् वाक् का अर्थ है सत्य और प्रिय वचन बोलना। सम्यक् कर्मांत का

तात्पर्य है अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन। सम्यक् आजीव का अर्थ है धर्मानुकूल जीविकोपार्जन। सम्यक् व्यायाम का तात्पर्य है बुरे विचारों को रोकना और अच्छे विचारों को बढ़ावा देना। सम्यक् स्मृति का अर्थ है काय, वेदना, चित्त और धर्म की स्मृति। सम्यक् समाधि का तात्पर्य है ध्यान की चार अवस्थाओं की प्राप्ति। बौद्ध दर्शन में निर्वाण को परम लक्ष्य माना गया है। निर्वाण का अर्थ है तृष्णा का पूर्ण उन्मूलन। जब व्यक्ति की समस्त वासनाएं नष्ट हो जाती हैं, तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण की अवस्था में राग–द्वेष, मोह–माया आदि सभी क्लेश समाप्त हो जाते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह न तो शून्य है और न ही अस्तित्व। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें सभी द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं।

बौद्ध दर्शन में पंचशील का विशेष महत्व है। ये पांच शील हैं – प्राणिहिंसा से विरति, चोरी से विरति, व्यभिचार से विरति, झूठ से विरति और मादक पदार्थों के सेवन से विरति। इन शीलों का पालन करने से व्यक्ति के जीवन में नैतिकता का विकास होता है और वह धीरे–धीरे निर्वाण की ओर अग्रसर होता है।

बौद्ध दर्शन में करुणा और मैत्री को विशेष महत्व दिया गया है। करुणा का अर्थ है दूसरों के दुःख को देखकर द्रवित होना और उनके दुःख को दूर करने का प्रयास करना। मैत्री का अर्थ है सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और सद्भावना रखना। बुद्ध ने कहा है कि वैर से वैर नहीं, अवैर से वैर शांत होता है। बौद्ध दर्शन का मध्यम मार्ग भी महत्वपूर्ण है। बुद्ध ने न तो अति भोग को श्रेयस्कर माना और न ही अति त्याग को। उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया जो न तो अति कठोर है और न ही अति सरल। यह मार्ग संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देता है।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है जो मनुष्य को दुःख से मुक्ति का मार्ग दिखाता है। यह दर्शन आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना पहले था। वर्तमान समय में जब मनुष्य भौतिक सुख–सुविधाओं के पीछे भाग रहा है और मानसिक शांति खो रहा है, तब बौद्ध दर्शन उसे सही दिशा दिखा सकता है। यह दर्शन हमें सिखाता है कि वास्तविक सुख बाहर नहीं, भीतर है और उसे पाने के लिए हमें अपनी वासनाओं और तृष्णाओं पर नियंत्रण करना होगा। बौद्ध दर्शन का संदेश है – "अप्प दीपो भव" अर्थात् अपना दीपक स्वयं बनो।

प्रस्तुत खंड में मूल बौद्ध दर्शन पर गहनता से विचार–विमर्श हेतु इसे पाँच इकाईयों में विभाजित किया गया है–

इकाई 1 में चार आर्य सत्य पर चिंतन किया गया है।

इकाई 2 में प्रतीत्यसमुत्पाद पर चिंतन किया गया है।

इकाई 3 में अनित्यवाद पर चिंतन किया गया है।

इकाई 4 में अनात्मवाद पर चिंतन किया गया है।

इकाई 5 में निर्वाण एवं बोधिसत्व पर चिंतन किया गया है।

इकाई – 1

चार आर्य सत्य

इकाई की रूपरेखा–

1.0 उद्देश्यः

1.1 प्रस्तावनाः

1.2 चार आर्य सत्यः

1.3 प्रथम आर्य सत्यः दुःख

1.4 द्वितीय आर्य सत्यः दुःख समुदय

1.5 तृतीय आर्य सत्यः दुःख निरोध

1.6 दुःख निरोध मार्ग (दुःख निरोध के मार्ग का सत्य)

1.7 चार आर्य सत्य का वर्तमान समय में महत्वः

1.7.1 आधुनिक जीवन में प्रासंगिकताः

1.7.2 मानसिक स्वास्थ्य और चार आर्य सत्यः

1.7.3 सामाजिक जीवन में उपयोगिताः

1.8 निष्कर्षः

1.9 सारांशः

1.10 प्रश्न बोधः

1.11 उपयोगी पुस्तकेंः

1.0 उद्देश्यः

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत चार आर्य सत्य से परिचित कराना है। यह अध्याय विद्यार्थियों को जीवन के यथार्थ को समझने में सहायता करेगा। इसके माध्यम से विद्यार्थी दुःख के कारणों और उनसे मुक्ति के मार्ग को समझ सकेंगे। बौद्ध दर्शन की यह मूलभूत शिक्षा आधुनिक जीवन में भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी गौतम बुद्ध के समय में थी। इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी न केवल बौद्ध दर्शन के सैद्धांतिक पक्ष को समझेंगे बल्कि इसके व्यावहारिक पहलुओं से भी परिचित होंगे। यह अध्याय विद्यार्थियों को जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रदान करेगा जो उन्हें अपने दैनिक जीवन में आने वाली चुनौतियों का सामना करने में सहायक होगा। साथ ही, यह उन्हें मानसिक शांति और आत्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग भी दिखाएगा। इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को एक ऐसा ज्ञान प्रदान करना है जो उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों में सार्थक हो।

1.1 प्रस्तावनाः

चार आर्य सत्य बौद्ध दर्शन का मूल आधार हैं। गौतम बुद्ध को ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जो पहला ज्ञान प्राप्त हुआ, वह चार आर्य सत्य के रूप में था। इन चार सत्यों में मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं और उनके समाधान का विवेचन किया गया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार, मनुष्य के जीवन का मूल उद्देश्य दुःख से मुक्ति प्राप्त करना है। चार आर्य सत्य इसी मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। ये सत्य न केवल दार्शनिक सिद्धांत हैं, बल्कि जीवन जीने की एक व्यावहारिक कला भी हैं। आधुनिक समय में जब मनुष्य तनाव, चिंता और अवसाद से ग्रस्त है, तब इन सत्यों की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। चार आर्य सत्य मनुष्य को आत्मज्ञान की ओर ले जाते हैं और उसे जीवन के यथार्थ से परिचित कराते हैं।

1.2 चार आर्य सत्यः

एक परिचयः चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म की मूल शिक्षाएँ हैं जिन्हें बुद्ध ने अपने ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् सर्वप्रथम सारनाथ में पाँच भिक्षुओं को प्रदान किया। ये सत्य जीवन की वास्तविकता को प्रकट करते हैं। 'आर्य' शब्द का अर्थ है 'महान' या 'श्रेष्ठ' और 'सत्य' का अर्थ है 'वास्तविकता'। इस प्रकार चार आर्य सत्य चार महान वास्तविकताएँ हैं जो जीवन के यथार्थ को प्रकट करती हैं। बौद्ध दर्शन में इन सत्यों को एक चिकित्सक के नैदानिक दृष्टिकोण से समझाया गया है, जहाँ पहला सत्य रोग (दुःख), दूसरा रोग का कारण (दुःख का कारण), तीसरा रोग की समाप्ति (दुःख की समाप्ति) और चौथा रोग से मुक्ति का मार्ग (दुःख से मुक्ति का मार्ग) है।

1.3 प्रथम आर्य सत्यः दुःख

प्रथम आर्य सत्य बौद्ध दर्शन की आधारशिला है, जो जीवन की मूलभूत वास्तविकता 'दुःख' को प्रस्तुत करता है। बुद्ध के अनुसार, जन्म दुःख है, जरा दुःख है, व्याधि दुःख है, मरण दुःख है, अप्रिय का मिलना दुःख है, प्रिय का वियोग दुःख है, और इच्छित वस्तु की अप्राप्ति दुःख है।

दुःख के तीन मूल प्रकार हैं:

1. दुःख–दुःखः यह शारीरिक और मानसिक पीड़ा है। जैसे, बीमारी, चोट, भूख, प्यास, थकान, बुढ़ापा, मृत्यु आदि। यह सबसे स्पष्ट और सामान्य रूप का दुःख है।
2. विपरिणाम–दुःखः यह परिवर्तन से उत्पन्न दुःख है। संसार में कोई भी वस्तु या स्थिति स्थायी नहीं है। प्रिय वस्तुओं का वियोग, सुख की क्षणभंगुरता, स्थितियों में अचानक परिवर्तन – ये सब विपरिणाम–दुःख के उदाहरण हैं।
3. संस्कार–दुःखः यह अस्तित्व की अनित्यता से उत्पन्न सूक्ष्म दुःख है। यह जीवन की मूलभूत असंतुष्टि है जो हमारे अस्तित्व की अस्थायी प्रकृति से उत्पन्न होती है।

बुद्ध ने पंच स्कंधों को भी दुःख का स्रोत माना है:

1. रूप (भौतिक शरीर)
2. वेदना (संवेदनाएं)
3. संज्ञा (प्रत्यक्षीकरण)
4. संस्कार (मानसिक संस्कार)
5. विज्ञान (चेतना)

दुःख की यह अवधारणा निराशावाद नहीं है, बल्कि यथार्थवाद है। यह जीवन की वास्तविकता को समझने और स्वीकार करने का पहला कदम है। दुःख को समझने से ही उससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

1.4 द्वितीय आर्य सत्यः दुःख समुदय

द्वितीय आर्य सत्य दुःख के कारणों की गहन व्याख्या करता है। बुद्ध के अनुसार, दुःख का मूल कारण तृष्णा है। तृष्णा का अर्थ है वह गहन लालसा जो हमें निरंतर असंतुष्ट रखती है और पुनर्जन्म का कारण बनती है।

तृष्णा के तीन प्रमुख प्रकार हैं:

1. काम तृष्णाः भोग पदार्थों की लालसा, इंद्रिय सुखों की तीव्र इच्छा
2. भव तृष्णाः अस्तित्व की लालसा, शाश्वतवाद में विश्वास
3. विभव तृष्णाः विनाश की लालसा, उच्छेदवाद में विश्वास

प्रतीत्य समुत्पाद (कार्य–कारण श्रृंखला) के माध्यम से बुद्ध ने दुःख की उत्पत्ति का विस्तृत विश्लेषण किया है:

1. अविद्या (अज्ञान): यथार्थ का अज्ञान
2. संस्कारः पूर्व जन्मों के संस्कार

3. विज्ञानः चेतना का विकास
4. नाम–रूपः मानसिक और भौतिक तत्व
5. षडायतनः छह इंद्रियाँ (पांच ज्ञानेंद्रियाँ और मन)
6. स्पर्शः इंद्रियों का विषयों से संपर्क
7. वेदनाः संवेदना या अनुभूति
8. तृष्णाः लालसा या इच्छा
9. उपादानः आसक्ति
10. भवः अस्तित्व
11. जातिः जन्म
12. जरा–मरणः बुढ़ापा और मृत्यु

1.5 तृतीय आर्य सत्यः दुःख निरोध

तृतीय आर्य सत्य दुःख से मुक्ति की संभावना को प्रस्तुत करता है। बुद्ध ने स्पष्ट किया कि दुःख की उत्पत्ति कारणों से होती है, और इन कारणों को समाप्त करके दुःख से मुक्ति संभव है। इस मुक्ति की अवस्था को 'निर्वाण' कहा जाता है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है 'बुझ जाना'। जैसे दीपक की लौ हवा में बुझ जाती है, वैसे ही तृष्णा की अग्नि का शांत हो जाना निर्वाण है। यह वह अवस्था है जहाँ समस्त इच्छाएँ, राग–द्वेष और मोह समाप्त हो जाते हैं।

निर्वाण की प्रमुख विशेषताएँः

1. यह परम शांति की अवस्था है
2. इसमें तृष्णा का पूर्ण विनाश होता है
3. यह राग–द्वेष–मोह से पूर्ण मुक्ति है
4. यह कर्मों के बंधन से मुक्ति है
5. इसमें पुनर्जन्म का चक्र समाप्त हो जाता है

निर्वाण दो प्रकार का होता हैः

1. सोपाधिशेष निर्वाणः यह जीवित अवस्था में प्राप्त निर्वाण है, जहाँ भौतिक शरीर विद्यमान रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति जीवित रहते हुए भी तृष्णा से मुक्त हो जाता है।
2. निरुपाधिशेष निर्वाणः इसे महापरिनिर्वाण भी कहा जाता है। यह वह अवस्था है जहाँ भौतिक शरीर भी समाप्त हो जाता है और व्यक्ति पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

निर्वाण की प्राप्ति तभी संभव है जब व्यक्ति अविद्या (अज्ञान) से मुक्त हो जाता है और यथार्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ व्यक्ति सांसारिक बंधनों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

1.6 चतुर्थ आर्य सत्यः दुःख निरोध मार्ग

अंतिम सत्य दुःख निरोध मार्ग के माध्यम से शांति प्राप्त करने का रास्ता दिखाता है, जिसे 'अष्टांगिक मार्ग' कहा जाता है। यह मार्ग व्यक्ति को शील, समाधि, और प्रज्ञा की ओर ले जाता है, जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं। अष्टांगिक मार्ग में आठ अंग होते हैं, जो इस प्रकार हैंः

सम्यक् दृष्टि – चार आर्य सत्यों की सही समझ होना।

सम्यक् संकल्प – अहिंसा, करुणा, और अनुशासन का पालन।

सम्यक् वाक् – सत्यवादी और संयमित भाषा का प्रयोग।

सम्यक् कर्मांत – अहिंसक, न्यायसंगत, और नैतिक कार्य करना।

सम्यक् आजीविका – ऐसा जीवनयापन करना जिससे किसी भी जीव को हानि न हो।

सम्यक् व्याया – अपने विचारों, भावनाओं, और शरीर की सही समझ।

सम्यक् समाधि – ध्यान और मानसिक स्थिरता का विकास।

अष्टांगिक मार्ग को पालन करने से व्यक्ति धीरे–धीरे अपनी तृष्णाओं, वासनाओं और मानसिक विकारों से मुक्त हो सकता है। यह मार्ग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुशासन, आत्म–निरीक्षण, और आत्म–संयम को बढ़ावा देता है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प से व्यक्ति को अपने मन को पवित्र करने की प्रेरणा मिलती है, जबकि सम्यक् वाक् और सम्यक् कर्मांत उसे सामाजिक जीवन में न्याय और सत्य का पालन करने की दिशा में प्रेरित करते हैं।

1.7 चार आर्य सत्य का वर्तमान समय में महत्वः

वर्तमान युग में चार आर्य सत्य की प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। आधुनिक जीवन की जटिलताओं, तकनीकी विकास और भौतिक सुख–सुविधाओं की प्राप्ति के बावजूद मानव जीवन दुःख से मुक्त नहीं हो पाया है। वास्तव में, आधुनिक युग में नए प्रकार के दुःख जैसे डिजिटल तनाव, सोशल मीडिया एडिक्शन, कार्य–जीवन असंतुलन, पर्यावरणीय चिंताएं और सामाजिक अलगाव ने जन्म लिया है। इस परिप्रेक्ष्य में चार आर्य सत्य न केवल इन समस्याओं को समझने में सहायक हैं, बल्कि उनके समाधान का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। बुद्ध की शिक्षाएं आज के व्यक्ति को अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं पर नियंत्रण रखने, संतुलित जीवन जीने और

आंतरिक शांति प्राप्त करने में मार्गदर्शन प्रदान करती हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों ने भी बौद्ध धर्म के इन सिद्धांतों की वैज्ञानिक वैधता को प्रमाणित किया है, विशेषकर मानसिक स्वास्थ्य और तनाव प्रबंधन के क्षेत्र में।

1.7.1 आधुनिक जीवन में प्रासंगिकता:

आधुनिक जीवन में चार आर्य सत्य की प्रासंगिकता को कई स्तरों पर समझा जा सकता है। प्रथमतः, ये सत्य आधुनिक मनुष्य को जीवन के यथार्थ से परिचित कराते हैं। भौतिक समृद्धि और तकनीकी विकास के बावजूद मानवीय दुःख कम नहीं हुआ है, बल्कि उसके स्वरूप में परिवर्तन आया है। डिजिटल युग में लोग सोशल मीडिया पर दूसरों की सफलता देखकर अपने जीवन से असंतुष्ट महसूस करते हैं। कार्यस्थल पर प्रतिस्पर्धा, पारिवारिक संबंधों में तनाव, और भविष्य की अनिश्चितता ने नए प्रकार के मानसिक दबाव उत्पन्न किए हैं। चार आर्य सत्य इन समस्याओं को समझने और उनसे निपटने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये सिखाते हैं कि दुःख का मूल कारण हमारी अतृप्त इच्छाएं और आसक्तियां हैं, और इनसे मुक्ति का मार्ग आत्मज्ञान और संयम से होकर जाता है।

1.7.2 मानसिक स्वास्थ्य और चार आर्य सत्य:

आधुनिक मनोविज्ञान और मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में चार आर्य सत्य की उपयोगिता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। बौद्ध दर्शन का मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित दृष्टिकोण अत्यंत वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। अवसाद, चिंता, तनाव जैसी मानसिक समस्याओं के समाधान में बौद्ध विचारधारा का योगदान महत्वपूर्ण है। माइंडफुलनेस और ध्यान जैसी बौद्ध तकनीकों का उपयोग आज मनोचिकित्सा में किया जा रहा है। चार आर्य सत्य सिखाते हैं कि मानसिक पीड़ा का मूल कारण हमारी सोच और दृष्टिकोण में निहित है, और इसे बदलकर हम अपने मानसिक स्वास्थ्य में सुधार कर सकते हैं।

1.7.3 सामाजिक जीवन में उपयोगिता:

चार आर्य सत्य का सामाजिक जीवन में विशेष महत्व है। ये सत्य न केवल व्यक्तिगत स्तर पर, बल्कि सामाजिक स्तर पर भी मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। आधुनिक समाज में बढ़ती असमानता, हिंसा, पर्यावरण की क्षति, और सामाजिक विघटन जैसी समस्याएं इन सत्यों की रोशनी में बेहतर ढंग से समझी जा सकती हैं। बौद्ध दर्शन का करुणा और मैत्री का संदेश सामाजिक एकता और शांति के लिए आवश्यक है। चार आर्य सत्य समाज को एक नैतिक दिशा प्रदान करते हैं और सामूहिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

1.8 निष्कर्ष:

चार आर्य सत्य बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत हैं जो मानव जीवन की समस्याओं और उनके समाधान को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हैं। ये सत्य जीवन के यथार्थ को समझने और उससे मुक्ति पाने का मार्ग दिखाते

हैं। वर्तमान युग में इनकी प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है क्योंकि आधुनिक मनुष्य विभिन्न प्रकार के दुःखों से ग्रस्त है। चार आर्य सत्य न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक स्तर पर भी मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। इनकी शिक्षाएं मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक सद्भाव और आध्यात्मिक उन्नति के लिए महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक विज्ञान ने भी इन सत्यों की वैधता को स्वीकार किया है।

1.9 सारांशः

इस इकाई में हमने बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत चार आर्य सत्य का विस्तृत अध्ययन किया। हमने देखा कि कैसे ये सत्य मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं की पहचान करते हैं और उनके समाधान का मार्ग बताते हैं। प्रथम आर्य सत्य दुःख की वास्तविकता को प्रकट करता है, द्वितीय आर्य सत्य दुःख के कारणों की व्याख्या करता है, तृतीय आर्य सत्य दुःख की समाप्ति की संभावना को बताता है, और चतुर्थ आर्य सत्य दुःख से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। हमने यह भी देखा कि कैसे ये सत्य वर्तमान समय में प्रासंगिक हैं और आधुनिक जीवन की समस्याओं के समाधान में सहायक हैं। मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक उन्नति में इन सत्यों का महत्वपूर्ण योगदान है।

1.10 प्रश्न बोधः

1. दुःख की अवधारणा को बौद्ध दर्शन के संदर्भ में विस्तार से समझाइए।
2. चार आर्य सत्य का आधुनिक जीवन में क्या महत्व है? विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. "चार आर्य सत्य मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
4. बौद्ध दर्शन में दुःख के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
5. बौद्ध दर्शन में वर्णित दुःख निरोध मार्ग की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
6. चार आर्य सत्य और आधुनिक मनोविज्ञान के बीच संबंध स्थापित कीजिए।
7. क्या चार आर्य सत्य वर्तमान समय की सामाजिक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकते हैं? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।
8. बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक मार्ग का महत्व समझाइए।
9. चार आर्य सत्य की वर्तमान प्रासंगिकता पर एक निबंध लिखिए।
10. दुःख समुदय और दुःख निरोध की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

1.11 उपयोगी पुस्तकें:

1. राहुल सांकृत्यायन. बुद्धचर्या. इलाहाबादः किताब महल, 2018. मुद्रित.
2. धर्मानंद कोसंबी. भगवान बुद्धः जीवन और दर्शन. दिल्लीः राजपाल एंड सन्स, 2019. मुद्रित.

3. नरेंद्र देव. बौद्ध धर्म दर्शन. वाराणसीः विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2020. मुद्रित.
4. Harvey, Peter. An Introduction to Buddhism: Teachings, History and Practices. Cambridge UP, 2019. Print.
5. Gethin, Rupert. The Foundations of Buddhism. Oxford UP, 2018. Print.
6. Thich Nhat Hanh. The Heart of the Buddha's Teaching. Harmony Books, 2015. Print.
7. Bhikkhu Bodhi. The Noble Eightfold Path: Way to the End of Suffering. Pariyatti Publishing, 2016. Print.

इकाई–2 : प्रतीत्यसमुत्पाद

इकाई की रुपरेखा–

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 प्रतीत्यसमुत्पाद को आचार्य बुद्ध घोष ने दो भागों में बांटा है
2.3 प्रतीत्यसमुत्पाद के पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त के रुप में जरा–मरण
- 2.3.1 जाति
- 2.3.2 भव
- 2.3.3 उपादान
- 2.3.4 तृष्णा
- 2.3.5 वेदना
- 2.3.6 स्पर्श
- 2.3.7 षडायतन
- 2.3.8 नाम–रुप
- 2.3.9 विज्ञान
- 2.3.10 संस्कार
- 2.3.11 अविद्या

2.4 सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदाय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है
2.5 वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद
2.6 माध्यमिक या शून्यवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद
2.7 विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त
2.8 बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के द्वारा आलोचना
- 2.8.1 न्याय – वैशेषिक द्वारा बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद क आलोचना
- 2.8.2 बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद का सांख्य दर्शन द्वारा खण्डन

2.9 प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्व और आधुनिक वैज्ञानिक युग में उसकी उपादेयता
2.10 निष्कर्ष
2.11 सारांश
2.12 बोध प्रश्न
2.13 उपयोगी पुस्तकें

****

2.0 उद्देश्य

बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा द्वारा महात्मा बुद्ध के द्वितीय आर्य सत्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। द्वितीय आर्य सत्य के द्वारा महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि दुःख का कारण है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का कारणता का सिद्धान्त हैं, जिसमें मनुष्य के दुःखों के मूल कारण तक पहुँचने का प्रयास किया गया है और पुनः मूल कारणों के निरोध के लिए मार्ग सुझाया गया है।

2.1 प्रस्तावना

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय है। यह द्वितीय आर्य सत्य है, जिसमें बुद्ध ने दुःख के कारण की खोज किया। महात्मा बुद्ध के अनुसार– दुःख उत्पन्न होता है और दुःख के उत्पन्न होने के कारण भी हैं। क्योंकि संसार में कोई भी घटना अकारण नहीं घटित होती है। उनके अनुसार कारणता का यह सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम' या 'आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त' कहलाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य है– किसी वस्तु के होने पर ही अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। अतएव बुद्ध के अनुसार दुःख भी अकारण नहीं है। दुःखों के कारण की खोज की प्रक्रिया में उन्होंने बारह कड़ियों वाली एक लम्बी श्रृखंला की खोज की है, जिसकी अन्तिम कड़ी अविद्या है और यही दुःखों का मूलभूत कारण है। यही कारण है कि प्रतीत्यसमुत्पाद को 'द्वादश निदान' चक्र की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।

वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन का कारण कार्य सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का अर्थ है कि कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि प्रतीत्यसमुत्पाद को 'कारणवाद' भी कहा जाता है। कार्य सदा कारण सापेक्ष होता है। कारण के होने पर ही कार्य होता है तथा कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं होता है। संसार दुःखमय है। दुःख का निरोध निर्वाण है। सापेक्ष दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद दुःख समुदय रुप से संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंचोपशम है। प्रतीत्यसमुत्पाद नियम को बौद्ध दर्शन में परिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि 'ईमास्नि् सति इदं होति'। अर्थात कार्य के होने पर कारण होता है। जो उत्पन्न होता है, वह कार्य होता है वह सापेक्ष है, जो सापेक्ष है, वह वस्तुतः न सत् है न असत् है, केवल प्रतीति है। बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय चाहे वे वस्तुवादी हों चाहे विज्ञानवादी हों या चाहे वे शून्यवादी हों, सभी सम्प्रदाय अपनी– अपनी मान्यताओं के समर्थन में प्रतीत्यसमुत्पाद के इस अर्थ को ग्रहण करते हैं कि 'ईमास्नि सति इदं होति'।

2.2 प्रतीतत्यसमुत्पाद को आचार्य बुद्ध घोष ने दो भागों में बांटा है

प्रतीत्यसमुत्पाद को आचार्य बुद्ध घोष ने दो भागों में बॉटा है।

(1) 'प्रतीत्य' अर्थात हेतु समूह के सम्मुख होने से है और

(2) 'समुत्पाद' अर्थात अकेला न होकर साथ उत्पन्न होने से है। दूसरे शब्दों में पारस्परिक स्वभाव वाले धर्मो को उत्पन्न करने से है।

इस प्रकार 'प्रतीत्य' शब्द से शाश्वत आदि दृष्टियों का और 'समुत्पाद' से उच्छेद आदि दृष्टियों का प्रहाण हो जाता है और दोनों के मध्य का रास्ता प्रतिभासित होता है। इसीलिए प्रतीत्यसमुत्पाद को 'मध्यमा–प्रतिपदा' भी कहा जाता है।

2.3 प्रतीत्यसमुत्पाद के पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त के रुप में जरा–मरण

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा यह स्पष्ट हो जाने के पश्चात कि संसार की सभी घटनाओं का एक कारण होता है, यह प्रश्न स्वाभाविक है कि दुःख एवं जरा मरण का क्या कारण है? जीवित रहने की आकांक्षा हमारे जीवन की आधारभित्ति है। जन्म लेना मनुष्य के लिए सबसे बड़ा पाप है। यही एक सरल सत्य है, कार्य– कारण की श्रृखंला में जिसका परिष्करण किया गया है। वास्तविकता यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद ऐसी परिभाषाओं की श्रृखंला बन गया है, जो समस्त चेतनामय जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध एवं पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करता है।

2.3.1 जाति

दुःख के मूल कारण की खोज में तत्पर बुद्ध ने यह अनुभव किया कि यदि मनुष्य का जन्म न होता; तो उसे दुःख की अनुभूति न होती। दुःख का अस्तित्व केवल इसलिए है; क्योंकि मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। मनुष्य के जन्म ग्रहण करने की इस अवस्था को ही बौद्ध दर्शन में 'जाति' कहा गया है। उत्पन्न होना ही 'जाति' है। 'जाति' पंचस्कन्धों के स्फुरण की अवस्था है। 'मज्झिम निकाय में भगवान कहते हैं कि– ''उन–उन सत्वों का उस–उस सत्वनिकाय में जाति, सज्जाति, अवक्रांति, अभिनिर्वृत्ति स्कन्धों को प्रार्दुभाव और आयतनों का प्रतिलाभ यही जाति है''

2.3.2 भव

जाति अकारण नहीं है। जाति का कारण 'भव' है। होना मात्र भव है, अर्थात् पुनर्जन्म कराने वाला कर्म भव कहलाता है। यह दो प्रकार का है– उत्पत्ति भव और कर्म भव। जो कर्म पुनर्जन्म कराने वाले होते हैं, उन्हें 'कर्मभव' कहते हैं। सत्व जिस–जिस उपादान को लेकर जिस–जिस लोक को जन्मता है वह 'उत्पत्ति भव' कहलाता है। इस प्रकार बुद्ध की देशना में 'भव' जन्म ग्रहण कराने की प्रवृत्ति है; जिसके अभाव में किसी प्राणी का जन्म नहीं हो सकता।

2.3.3 उपादान

उपादान वह है; जिसमें विषयों को दृढ़तापूर्वक ग्रहण किया जाता है। बौद्ध दर्शन में जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति का कारण उपादान बताया गया है। उपादान में विषयों से चिपके रहने की उत्कट इच्छा होती है। उपादान चार प्रकार का है–

1. कामोपादान– काम वासनाओं से चिपटे रहना।
2. दृष्ट्युपादान– मिथ्या सिद्धान्तों में विश्वास।
3. शील व्रतोपादान– व्यर्थ के शीलाचार में लगे रहना।
4. आत्मवादोपादान– आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ आग्रह करना।

2.3.4 तृष्णा

उपादान का कारण 'तृष्णा' है। तृष्णा विषयों के भोग करने की वासना है। तृष्णा षड्विषयों के प्रति आसक्ति का होना है। यह तीन प्रकार की बतायी गयी है– (1) काम (2) भव और (3) विभव। यह त्रिविध तृष्णा ही सत्व को भव–चक्र में घुमाने वाली होती है। अतएव बुद्ध का यह मानना है कि उपादान तृष्णाजन्य है और विषय–भेद से यह छः प्रकार की होती है।

2.3.5 वेदना

महात्मा बुद्ध ने इस प्रश्न पर विचार कि यह 'तृष्णा' होती ही क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज में बुद्ध ने यह पाया कि तृष्णा का कारण इन्द्रिय–विषय संयोग से उत्पन्न 'वेदना' है। इस वेदना के अभाव में तृष्णा का होना असंभव है। वास्तविकता यह है कि वेदना का अर्थ अनुभव करना है। इन्द्रिय विषय संयोग से मन पर जो प्रथम प्रभाव पड़ता है; उसी का नाम वेदना है। मन से वेदना का अटूट सम्बन्ध है। वेदना भी तीन प्रकार की होती है– सुख वेदना, दुःख वेदना और अ–सुख दुःख वेदना। वेदना के कारण ही व्यक्ति में विषयों के भोग की वासना उत्पन्न होती है।

2.3.6 स्पर्श

वेदना भी अकारण नहीं है। वेदना का कारण 'स्पर्श' है। इन्द्रिय और विषय के सन्निपात को 'स्पर्श' कहते हैं। यह वह अवस्था है, जब सत्व बाह्य जगत् के पदार्थों के सम्पर्क में आता है। यह पंचेन्द्रिय और मन, इन छः भेदों के कारण छः प्रकार का होता है। वस्तुतः इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क होना ही स्पर्श है।

2.3.7 षडायतन

'स्पर्श ' का कारण 'षडायतन' है। 'षडायतन' से तात्पर्य है– छः आयतन अर्थात पाँच इन्द्रियाँ और 'मन' षडायतन कहलाते हैं। ये षडायतन ही ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होते हैं। यह षडायतन उस अवस्था का सूचक है, जब सत्व माता के उदर से बाहर आता है और उसकी छः इन्द्रियाँ आँख, कान, नाक, जिह्वा, स्पर्श और मन पूर्णतया विकसित तो हो गयी है, किन्तु वह अभी तक बाह्य विषयों के सम्पर्क में नहीं आ सकी है।

2.3.8 नाम–रुप

महात्मा बुद्ध ने षडायतन के भी कारण पर विचार किया और यह पाया कि 'षडायतन' का कारण 'नाम–रुप' है। नाम रुप में दो शब्द हैं– नाम और रुप। नाम में संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध आते हैं और रुप में पृथ्वी जल, तेज और वायु ये चार महाभूत आते हैं। दोनो को मिलाकर ही पंचस्कन्ध नाम रुप कहलाते हैं। रुप औदारिक होते हैं और नाम क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं। नाम को मानसिक धर्म भी कहते हैं और 'रुप' शारीरिक धर्म कहे जाते हैं। क्योंकि रुप से ही सत्व की काया की संरचना होती है। नाम–रुप विज्ञान से होता है। जब विज्ञान (चित्त) माता के गर्भ से प्रतिसन्धि ग्रहण करता है, तभी से नाम–रुप उत्पन्न होना शुरु हो जाते हैं।

2.3.9 विज्ञान

नाम–रुप भी तभी संभव है; जब विज्ञान प्रत्युत्पन्न जीवन संभव हो। जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चेतना प्राप्त करता है, तो वह अवस्था चैतन्य या विज्ञान की होती है। 'विज्ञान' से तात्पर्य ऐसी चित्तधाराओं से है, जो पूर्वजन्म में किये गये कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरुप प्रकट होती हैं और जिनके कारण ही सत्व अपनी इन्द्रियों के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। अतएव नाम–रुप का कारण विज्ञान या चेतना है।

2.3.10 संस्कार

विज्ञान का कारण 'संस्कार' या 'संस्कारों' के रुप में संचित पूर्व में किये गये संचित कर्म की प्रवृत्तियाँ है। वास्तविकता यह है कि संस्कार पूर्व जन्म की कर्मावस्था है। अविद्यावश सत्व जो भी भला–बुरा कर्म करता है; वही संस्कार कहलाता है। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि–''संस्कृत प्रत्युत्पन्न धर्मों का अभिसंस्कार करने वाली लौकिक कुशल और अकुशल चेतना को ही संस्कार कहते हैं''।

2.3.11 अविद्या

गौतम बुद्ध की देशना में संस्कार का कारण 'अविद्या' है। अविद्या का अर्थ है– प्रायः चार आर्य सत्यों का अज्ञान ही अविद्या है। अनित्य दुःख और अनात्मभूत जगत् में सुख या आत्मा को खोजना ही अविद्या है। आचार्य

बुद्धघोष अपनी अन्यतम रचना 'विसुद्धिमग्ग' के 'प्रज्ञाभूमि' नामक अध्याय में अविद्या की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि– ''यह अविद्या की स्कन्धों की राशि होने, आयतनों के आयतन होने, धातुओं के शून्य होने, इन्द्रियों के अधिपत्ति होने के कारण सत्य के यथार्थ ज्ञान को नहीं कराती हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मो के ढकने के कारण भी यह अविद्या कहलाती है।

अविद्या संसार का मूलकारण भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि भगवान ने स्वयं मज्झिम निकाय में कहा है कि अविद्या का कारण 'आस्रव' है अर्थात आस्रव से ही अविद्या उत्पन्न होती है और फिर संस्कार, भव आदि समस्त दुःखों का उत्पाद होता है। अतः अविद्या के मूल में आस्रव है और आस्रव के मूल में अविद्या। इस प्रकार यह भव चक्र चलता है।

2.4 सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदाय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है–

वास्तविकता यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा संसार के सभी सत्व नियमित हैं।सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदाय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह समुत्पाद ही जगत् की उत्पत्ति को स्पष्टतः द्योतित करता है। इसीलिए महात्मा बुद्ध सम्पूर्ण दुःखों के मूल कारण की खोज में 'अविद्या' को मानते हैं। अविद्या ही संसार के सभी दुःखों की जननी है। अविद्या के कारण ही कोई व्यक्ति सांसारिक विषयों के क्षणिक दुःखद और अयथार्थ स्वरुप को वास्तविक स्वरुप समझने की भूल करता है। यही कारण है कि बुद्ध अविद्या का कोई कारण नहीं बतलाते हैं।

2.5 वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद –

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को कारणता के सिद्धान्त के रुप में ग्रहण किया था। बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ कारण–कार्य सिद्धान्त के ही रुप में ग्रहण करते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी दार्शनिक प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को आभासमात्र न मानकर कारण से कार्य की उत्पत्ति को वास्तविक उत्पत्ति के रुप में स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सर्वास्तिवाद यह मानता है कि कार्य के होने के पहले कारण का होना अनिवार्य है। कार्य उत्पन्न होता है और उसकी सत्ता भी वास्तविक है। सर्वास्तिवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है– प्रतिरुप विनाशशील धर्म (प्रतीत्य) से वास्तविक उत्पत्ति (समुत्पाद)। सर्वास्तिवाद में माना जाता है कि पूर्वांग कारण है और उत्तरांग कार्य है। सर्वास्तिवाद यह भी स्वीकार करता है कि कोई स्थायी कारण नहीं होता।

इस प्रकार बुद्ध ने दुःखों के कारण की खोज में प्रतीत्यसमुत्पाद के रुप में कारणता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्रतीत्यसमुत्पाद के इस सिद्धान्त को ही 'जरामरण–चक्र' संसार–चक्र, द्वादश–निदान–चक्र, और भव–चक्र भी कहा जाता है।यह द्वादश–निदान–चक्र, व्यक्ति के भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों जीवन में व्याप्त है। अविद्या एवं संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति के अतीत जीवन या भूत कालीन जीवन से है। विज्ञान नाम–रुप षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान एवं भव व्यक्ति के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित है। जाति और जरामरण

का सम्बन्ध व्यक्ति के भविष्यकालीन जीवन से है। द्वादश–निदान–चक्र का यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक मूलभूत कारण अविद्या का नाश नहीं होता है।

2.6 माध्यमिक या शून्यवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद

शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ सर्वास्तिवाद से भिन्न मानता है। शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद को अर्थात कारण कार्य को वास्तविक नहीं आभास के रुप में मानता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में केवल प्रतीति होती है; न कि वास्तविक उत्पत्ति। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कारण कार्यवाद नहीं है। नागार्जुन ने कारण कार्यवाद का खण्डन किया है। नागार्जुन के अनुसार कोई पदार्थ न तो कभी और कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता है न दूसरे कारण से उत्पन्न हो सकता है, न अपने और दूसरे दोनों के कारण से उत्पन्न हो सकता है और न बिना कारण के उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता कहते हैं। नागार्जुन का मानना है कि प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षता तथा स्वभाव शून्यता का सिद्धान्त है। नागार्जुन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाएँ जो प्रतीत होती हैं सत्य नहीं है। जब वे सत्य नहीं है तो वे केवल प्रतीति हैं। ऐसी स्थिति में सभी वस्तुएं निःस्वभाव हैं। महात्मा बुद्ध के द्वादश निदान में एक निदान की सत्ता दूसरे पर निर्भर है, इस आधार पर एक निदान को दूसरे निदान की अपेक्षा है अर्थात सभी निदान सापेक्ष हैं, कोई निदान स्वतंत्र नहीं है, यही सापेक्षवाद है। यदि कोई निदान स्वतंत्र नहीं है तो उसका अपना कोई सापेक्षतावाद भी नहीं है। इस अर्थ में भी प्रतीत्यसमुत्पाद निःस्वभाव का सिद्धान्त है। इसी कारणता के सिद्धान्त पर चूँकि विश्व की व्याख्या होती है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण संसार को निःस्वभाव कहा जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु निःस्वभाव भी है और सापेक्ष भी है।

नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद के लिए आठ विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो इस प्रकार हैं–(1) अनिरोध (2) अनुत्पाद (3) अनुच्छेद (4) अशाश्वत (5) अनेकार्थ (6) अनानार्थ (7) अनागम (8) अनिर्गम। इन आठों विशेषताओं के आधार पर उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में न निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न उच्छेद होता है, न उसकी शाश्वत स्थिति है तथा उसमें एकता, अनेकता, अगति और निर्गति भी नहीं है। यही कारण है कि नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को प्रपंचशून्यता का सिद्धान्त कहते हैं अर्थात बुद्धि के सभी विकल्प निःस्वभाव के रुप में हो जाते हैं।

नागार्जुन शून्यवाद के तात्विक निरुपण में प्रतीत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दो रुपों का उल्लेख करते हैं। पारमार्थिक रुप में प्रतीत्यसमुत्पाद आठ निषेधात्मक विशेष णों से विशिष्ट अजातिवाद है, जहाँ समस्त प्रपंचों का उपशम होता है। आठों विशिष्टताएं प्रपंच के अन्तर्गत आती हैं जिनका पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद में उपषमन हो जाता है।परन्तु पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंच निषेधमात्र नहीं हैं।वह प्रपंचशून्य तत्व हैं वह शिव है, वह अखण्ड आनन्द रुप निर्वाण है। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कारण कार्यवाद नहीं है, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद परमार्थतः अनुत्पाद है। यहां संवृत्ति, व्यवहार, प्रतीति अविद्या और उपादान आदि प्रपंच का सर्वथा प्रहाण हो जाता

है। प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यावहारिक रुप अवद्यिाजन्य जन्म–मरण चक्र है। उत्पाद निरोध आदि प्रपंच हैं, किन्तु यह कारण कार्यभाव सापेक्ष है, बुद्धिविकल्पजन्य है, अविद्या–प्रसूत है, अतः इसकी सत्यता व्यावहारिक या प्रतीतिक मात्र है।

2.7 विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ प्रवाह के रुप में ग्रहण किया गया है तथा विश्व को निरन्तर प्रवाहशील माना गया है। संसार प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण विज्ञान को परतंत्र कहा जाता है, क्योंकि यह कारण कार्य नियम से नियंत्रित है। अविद्या और कर्म संस्कार के होते ही प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र चलने लगता है। विज्ञानवाद यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति के जन्म–जन्मान्तरों के अनित्य विज्ञानों का सन्तान (प्रवाह) आलय विज्ञान में चलता रहता है और इस प्रकार समस्त प्राणियों के क्षणिक विज्ञानों की अलग–अलग अनन्त धाराएं आलय विज्ञान में प्रवाहित होती रहती हैं। यही प्रतीत्यसमुत्पाद या जीवन मरण चक्र है।

2.8 बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के द्वारा आलोचना

आचार्य शंकर द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की आलोचना–

1. अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की अलोचना करते हुए कहा है कि कार्य के क्षण में कारण का क्षण बीत जाता है। अतः इन दोनों में कारण–कार्य सम्बन्ध कैसे हो सकेगा? हमें यह मानना पड़ेगा कि कार्य कारण के अभाव में होता है अर्थात् बिना कारण के होता है। अथवा यों कहें कि सत् कार्य असत् कारण से होता है, जो असंभव है।
2. यदि यह कहा जाय कि कार्य–कारण का नया रुप है, तो फिर क्षणिकवाद का विरोध होगा, क्योंकि कारण कार्य के क्षण में अर्थात दूसरे क्षण में भी था। अथवा फिर एक ही क्षण में उत्पत्ति और विनाश दोनों ही एक साथ होते हैं, जो कि निरर्थक है।
3. यदि बौद्ध दार्शनिक कहें कि कार्य बिना कारण के होते हैं, तो अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाते हैं कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है। यदि यह मान लिय जाय कि कारण और कार्य दोनों एक साथ हैं, तो कैसे माना जाएगा कि यह कारण है और यह कार्य है। कारण अपने क्षण में कारण रहता है। यदि यह कार्य के क्षण में भी ठहरे तो इसका तात्पर्य है कि कारण एक क्षण रहा और कार्योत्पत्ति करके विलुप्त हो गया, किन्तु इसे मान लेने पर बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद खण्डित हो जाता है।

2.8.1 न्याय – वैशेषिक द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की आलोचना

बौद्ध दर्शन के अनुसार कार्य जब व्यक्त होता है, तो कारण विलुप्त हो जाता है। बीज कारण के नष्ट होने पर पौधा कार्य प्रकट होता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि कार्य कारण की असत् अवस्था का नाम है, किन्तु बीज का अभाव यह मिट्टी में लोदे के अभाव के समान है क्योंकि एक अभाव और दूसरे अभाव में भिन्नता नहीं है। दोनों अभाव एक समान ही है। अतएव इससे यह मानना होगा कि बीज के अभाव से हमें घड़ा प्राप्त होता है अर्थात् किसी भी कारण के अभाव से कोई कार्य उत्पन्न होगा, जो उचित नहीं है। असत् से या तो कुछ भी

उत्पन्न नहीं होगा या हर कोई कार्य उससे उत्पन्न होगा और इस प्रकार की प्रत्येक स्थिति को अयुक्तिसंगत तथा अनुचित माना जाएगा।

2.8.2 बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद का सांख्य दर्शन द्वारा खण्डन.

सांख्य दर्शन बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहता है कि बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद जो कारणता का सिद्धान्त है इस सिद्धान्त में कारण कार्यता अन्वय व्यतिरेक के ज्ञान से अवगत नहीं हो सकती, क्योंकि जब कारण है, तब कार्य नहीं और जब कार्य है तो कारण नहीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब कार्य नहीं है, तब कारण है और जब कारण नहीं है तब कार्य है। बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद में यह भी जाना नहीं जा सकता है कि कारण–कार्य का नियत पूर्ववर्ती है। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन के 'प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त' कारणता का सापेक्षवादी सिद्धान्त है, जिसमें कारण–कार्य परस्पर आश्रित हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद में कारण–कार्य में आश्रय–आश्रित भाव का सम्बन्ध है। आश्रित–आश्रय भाव का अर्थ है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति अपने गुणात्मक स्वरुप में अपने पूर्ववर्ती उन्हीं तत्व समुदायों पर निर्भर करती है तथा उन्हीं गुणों को अभिव्यक्ति भी करती है जो मूलतः उन समुदायों में पहले से विद्यमान रहती है। अर्थात कार्य की अभिव्यक्ति के समय उसी क्रियात्मक पूर्ण रुप से इन मौलिक तत्वों का रुपान्तरण मात्र है, जो आधाररुप में इस अभिव्यक्ति को आश्रय प्रदान करते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक नवीन रुपान्तरण अपनी अभिव्यक्ति में अपने पूर्ववर्ती स्वरुप पर अपनी निर्भरता व्यक्त करता है। इस निर्भरता के आधार पर ही नये स्वरुप को कार्य और उसके पूर्ववर्ती स्वरुप को कारण मान लिया जाता है। रुपान्तरण की यह प्रक्रिया क्रमिक और श्रृखंलाबद्ध होती है, जिससे कार्य के गुणों एवं गति के आधार पर कारण के स्वभाव का निरुपण किया जा सकता है, जैसे– द्रव्य और ऊर्जा के विभिन्न रुपान्तरण क्रमशः कारण–कार्य के रुप में अपने पूर्ववर्ती द्रव्य या ऊर्जा के स्वरुप पर अपनी निर्भरता को ही व्यक्त करते हैं।

2.9 प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्व और आधुनिक वैज्ञानिक युग में उसकी उपादेयता

प्रो. संगम लाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिक परिचय' में प्रतीत्यसमुत्पाद को गणितशास्त्र तथा भौतिकी में उपयोगी बताया है। उन्होंने बताया है कि बौद्ध मत का कारण–कार्य भाव आश्रिताश्रयभाव (Functional Dependence) है। अर्थात जब कोई वस्तु उत्पन्न होती कही जाती है, तो वास्तव में उसकी उत्पत्ति का अर्थ नियमपूर्वक अपने पूर्ववर्तियों का आश्रय लेना है। डॉ0 पाण्डेय ने आधुनिक दार्शनिक रसेल का सन्दर्भ देते हुए बताया है कि आधुनिक भौतिकी और खगोल विद्या में कारण के सम्प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि कारण है ही नहीं। कारण के सम्प्रत्यय को आश्रिताश्रय के सम्प्रत्यय में बदल दिया गया है। उनका कहना मानना है कि कार्य–कारण भाव का आश्रिताश्रय भाव में रुपान्तरण गणितशास्त्र की बहुंत बड़ी उपलब्धि है। कार्य–कारण भाव का सम्बन्ध द्रव्य के परिवर्तन से है, जबकि आश्रित–आश्रयाभाव गुणों के समुदाय से सम्बन्धित है। कार्य–कारण भाव का आधुनिक, गणित, भौतिकी आदि से निराकरण बतलाता है कि वास्तव में द्रव्य के सम्प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है। इसने द्रव्य के सम्प्रत्यय का ही निराकरण कर दिया है। बौद्धों के इस विषय में विचार कितने प्रासंगिक हैं, इस विषय में यह कहा जा सकता है कि ''इस संदर्भ में बौद्ध दार्शनिकों का विचार

आज उतना ही आधुनिक हैं; जितना पहले कभी था।'' वस्तुतः बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त जिसे कारणता का सिद्धान्त कहा जाता है, भारतीय तर्कशास्त्र की महत्ता को दर्शाता है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिकों के कारणता का सिद्धान्त आज उतना युक्ति–संगत नहीं है जितना आज के वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त को प्रस्तुंत किया है जिसे पश्चिम के तर्कशास्त्री और वैज्ञानिक केवल बीसवीं शदी में कर पाये हैं। इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता के विषय में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त सभी अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है, किन्तु यह केवल वैज्ञानिक गवेषणा और आलोचना में उपयोगी है।

2.10 निष्कर्ष

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद कारणता का सापेक्षवादी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारणता घटनाओं की एक सन्तति है जिसमें कुछ उपाधियों के होने पर कोई घटना उत्पन्न होती है और यह सन्तति तब तक चलती रहती हे जब तक ये उपाधियाँ बनी रहती है। प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यमा–प्रतिपद या मध्यम मार्ग भी कहते हैं; क्योंकि यह शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद रुपी दो एकान्तिक दृष्टिकोणों के बीच का मार्ग है। इस प्रकार बुद्ध ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के महत्व को स्पष्ट करते हुए इसका तादात्म्य धर्म से किया है। उनके अनुसार आदि एवं अंत का विचार निरर्थक है। मैं धम्म (धर्म) का उपदेश देता हूँ। ऐसा होने पर वैसा होता है। इसके न होने पर यह नहीं होता है। जो प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है, वह धर्म को समझता है और जो धर्म को समझता है वह प्रतीत्यसमुत्वाद को समझता है। परन्तु महात्मा बुद्ध यह बतलाने में असफल रहते हैं कि समस्त दुःखों के मूलभूत कारण अविद्या का कारण क्या है?

2.11 सारांश

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में कोई भी घटना अकारण घटित नहीं होती है। किसी वस्तु के होने पर ही अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह सिद्धान्त कारणता का सापेक्षतावादी सिद्धान्त के रुप में प्रचलित है। महात्मा बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त में सांसारिक दुःखों के मूल कारण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। समस्त चेतनामय जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध एवं पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करने वाले इस सिद्धान्त में द्वादश कड़ियाँ हैं, जो इस प्रकार हैं–जरा–मरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नाम–रुप, विज्ञान, संस्कार एवं अविद्या। इस द्वादश कड़ियों की श्रृंखला को जरा–मरण चक्र, संसार चक्र, द्वादश निदान चक्र और भव चक्र भी कहा जाता है। इस द्वादश निदान के द्वारा महात्मा बुद्ध ने दुःखों के मूल कारण को खोजने का प्रयास किया है; जिससे मानव के निर्वाण का मार्ग प्रशस्त हो सके।

2.12 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
2. बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद कारणता का सापेक्षवादी सिद्धान्त है। समीक्षात्मक विवेचन कीजिए?

2.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

..............000............

इकाई–3

अनित्यवाद

इकाई की रुपरेखा–

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 क्षणिकवाद सिद्धान्त से महात्मा बुद्ध का आशय

3.3 क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक विकास है

3.4 बौद्ध दर्शन का अनित्यतावाद का सिद्धान्त मध्यम मार्ग है।

3.5 गौतम बुद्ध के अनुयायियों द्वारा क्षणिकवाद की व्याख्या

3.6 संसार में सब कुछ क्षणिक है

3.7 सर्वास्तिवाद में क्षणिकवाद की व्याख्या

3.8 अनात्मवाद

3.8.1 पुद्गल

3.9 बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के प्रति अन्य भारतीय दर्शनों का दृष्टिकोण

3.10 निष्कर्ष

3.11 सारांश

3.12 बोध प्रश्न

3.13 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य–

प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त ही बौद्ध दर्शन के अनित्यवाद के सिद्धान्त के रुप में प्रतिफलित होता है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक विकास है। इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि संसार परिवर्तन का एक प्रवाह है घटनाओं एवं विचारों का प्रवाह–मात्र है, जिसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। जीवन परिवर्तन की अभिव्यक्तियों की श्रृंखलामात्र है। महात्मा बुद्ध ने संसार के सभी पदार्थों को आत्माएवं अन्यान्य सांसारिक वस्तुओं को संभूति (Becoming) या प्रक्रिया एवं परिवर्तन (Change) के रुप में देखा है।

3.1 प्रस्तावाना–

महात्मा बुद्ध ने अपने द्वितीय आर्य सत्य प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि संसार में प्रत्येक वस्तु कारणानुसार होती है। कारण के विनष्ट होने पर वस्तु का भी विनाश हो जाता है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है। संसार में सर्वत्र अनित्यवाद का ही साम्राज्य है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त ही अनित्यवाद में प्रतिफलित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नही है जो परिवर्तनशील न हो। परिवर्तित होना विश्व की लाक्षणिक विशेषता है। बौद्ध दर्शन के अनित्यवाद के अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। बुद्ध ने अनित्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''जो बुद्ध हो सकता है, वह बुद्ध होकर ही रहेगा, जिसे रोगी होना है वह रोगी होकर ही रहेगा, जो मृत्यु के अधीन है, वह अवश्य मरेगा, जो नाशवान् है, उसका नाश अत्यावश्यक है।'' धम्मपद में कहा गया है कि – ''जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है, उसका भी पतन है।''

3.2 क्षणिकवाद सिद्धान्त से महात्मा बुद्ध का आशय

महात्मा बुद्ध ने स्वयं बौद्ध दर्शन के अनित्यतावाद सिद्धान्त की स्थापना किया। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद अनित्यतावाद का ही तार्किक विकास है। अनित्यतावाद शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का ही मध्यम मार्ग है। महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि– प्रत्येक वस्तु सत् है' यह एक प्रकार का एकान्तिक मत है और ''प्रत्येक वस्तु असत् है' यह दूसरे प्रकार का एकान्तिक मत है। इन दोनों ही एकान्तिक मतों का परित्याग कर महात्मा बुद्ध ने मध्यमम मार्ग का उपदेश दिया है। मध्यम मार्ग का सिद्धान्त यह है कि जीवन परिवर्तनशील है। जीवन को परिवर्तनशील कहकर बुद्ध ने सत् एवं असत् का समन्वय किया है। वास्तविकता यह है कि बुद्ध के अनित्यतावाद के सिद्धान्त को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया है। महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट रुप से उपदेश दिया था कि संसार की सभी वस्तुएं उत्पत्ति एवं विनाश के अधीन होने के कारण स्वभाव से अनित्य हैं। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार जितनी वस्तुएं हैं, उन सब की उत्पत्ति कारणानुसार हुई है। ये सभी सब प्रकार से अनित्य हैं। बुद्ध की देशना के अनुसार संसार मे कुछ भी स्थायी या नित्य नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा की भी नित्य सत्ता नहीं है। परन्तु महात्मा गौतम बुद्ध ने स्वयं ही अस्थायित्व एवं क्षणिकत्व में भेद किया है। महात्मा बुद्ध ने आत्मा को क्षणिक तथा भौतिक वस्तुओं को अनित्य कहा है। धम्मपद में यह स्पष्टतः कहा गया है कि ''जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है वह भी विनाशी है। जो महान मालूम पड़ता है उसका भी पतन है जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है, वहाँ मरण भी है।''

3.3 क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक विकास है

बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक परिणति है। महात्मा बुद्ध के अनित्यवाद सिद्धान्त को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया है। गौतम बुद्ध की देशना में प्रत्येक वस्तु अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। संसार में सर्वत्र परिवर्तनशीलता एवं अस्थायित्व ही विद्यमान है। वास्तविकता यह है कि

संसार परिवर्तन का एक प्रवाह है, घटनाओं एवं विचारों का प्रवाहमात्र है, जिसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। जीवन परिवर्तन की अभिव्यक्तियों की श्रृखंला–मात्र है। संसार की प्रत्येक वस्तु परतंत्र, आश्रित, सापेक्ष तथा प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण अनित्य तथा अस्थायी है। महात्मा बुद्ध ने पदार्थों को, आत्मा को एवं अन्यान्य सांसारिक वस्तुओं को संभूति या प्रक्रिया एवं परिवर्तन के अधीन माना है। बौद्ध दर्शन में परिवर्तन एवं अनित्यता को स्पष्ट करने के लिए अग्नि की ज्वाला एवं नदी की धारा के उदाहरण को दिया गया है।बौद्ध दर्शन यह उदाहरण देता है कि अग्नि की ज्वाला या दीपक की लौ अपरिवर्तित प्रतीत होती है, किन्तु वह प्रत्येक क्षण में वही नहीं है अपितु अन्य ज्वाला या लौ ही है। इन ज्वालाओं या लौ के निरन्तर प्रवाह के कारण उनमें एकता की प्रतीति होती है। नदी की धारा अपने प्रवाह में एक समान प्रवाह को स्थिर रखती हुई प्रतीत होती है यद्यपि प्रतिक्षण नयी जलराशि आ रही होती है। यद्यपि नदी की धारा में एक जलराशि दूसरी जलराशि के समान है, किन्तु वही नहीं। प्रवाह की निरन्तरता के कारण समानता के स्थान पर एकता की, प्रवाह की अनवच्छिन्नता के स्थान पर नित्यता की कल्पना कर ली जाती है जो एक भ्रान्ति है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ अनित्य एवं परिवर्तनषील है। आत्मा भी क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है। संसार में परिवर्तन एवं प्रवाह में सातत्य है। इसलिए उसमें एकता एवं नित्यता की भ्रान्ति होती है।

3.4 बौद्ध दर्शन का अनित्यतावाद का सिद्धान्त मध्यम मार्ग है।

बौद्ध दर्शन का अनित्यतावाद का सिद्धान्त 'मध्यम मार्ग' है। यह शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद के मध्य का मार्ग है। संयुक्तनिकाय में महात्मा बुद्ध के उपदेश के रुप में यह विचार व्यक्त किया गया है कि– ''यह संसार सत् एवं असत् के द्वैत पर आधारित है। 'यह सत् है' एक प्रकार का अतिवाद है और यह असत् है दूसरे प्रकार का अतिवाद है। सत्य सत् और असत् का समन्वित रुप है, जिसे बुद्ध ने 'संभूति' कहा है। महात्मा बुद्ध द्वारा सभी वस्तुओं को निरन्तर परिवर्तनषील मानने और उनकी पृष्ठभूमि में स्थायी सत्ता का निषेध करने के कारण अनित्यवाद, शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के बीच कोई भी ऐसी सत्ता नहीं है, जिससे स्थायी सत्ता के रुप में मान्यता दी जाए। अतएव निरन्तर होने वाला यह परिवर्तन ही संभूति के रुप में सत् है। निरन्तर प्रवाह को सत् के रुप में वर्णित करने वाला बौद्ध दर्शन का यह अनित्यतावाद का सिद्धान्त ग्रीक दर्शन में हेराक्लाइट्स के विचारों से और समकालीन दर्शन में हेनरी वर्गसा तथा ह्वाइटहेड के विचारों से मेल खाता है। ग्रीक दार्शनिक हेराक्लाइट्स ने कहा था कि ''परिवर्तन इतना शीघ्रतापूर्वक हो रहा है कि हम एक नदी की धारा में दो बार स्नान नहीं कर सकते।'' बर्गसां कहते हैं कि 'सत्ता ऐसी वस्तु नहीं है, जो परिवर्तनशील है, अपितु स्वयं परिवर्तन ही सत्ता है। ह्वाइटहेड का कथन है कि– '' हम जिस वस्तु को जिस समय देखते हैं वह उसी समय बदल जाती है। पाश्चात्य दार्शनिकों की ही भांति गौतम बुद्ध भी यही कहते हैं कि ''सत्ता स्थायी न होकर अनित्य एवं परिवर्तनशील है।''

3.5 गौतम बुद्ध के अनुयायियों द्वारा क्षणिकवाद की व्याख्या

महात्मा बुद्ध के अनित्यवाद के सिद्धान्त को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया। वास्तविकता यह है कि 'कोई वस्तु क्षणिक है' और कोई वस्तु अनित्य है, दोनों स्थापनाएं परस्पर भिन्न हैं। 'सांसारिक वस्तुएं अनित्य हैं, गौतम बुद्ध के इस सिद्धान्त का तार्किक विकास क्षणिकवाद है। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने उनके अनित्यवाद को क्षणिकवाद में परिवर्तित करके आत्मा के क्षणिक स्वरुप को अस्तित्वमात्र तक सीमित करके सभी वस्तुओं को क्षणिक मान लिया। क्षणिकवाद का अर्थ केवल यह नहीं है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व क्षण भर के लिए ही रहता है। क्षणिकवाद का अर्थ है,' किसी वस्तु का उसकी उत्पत्ति के तुरन्त बाद विनाश'। वह वस्तु जो अपनी उत्पत्ति के बाद तुरन्त नष्ट हो जाती है, क्षणिक कहलाती है। वस्तुतः क्षणिक स्वभाव और वह वस्तु, जिसमें इसके होने की बात की जाती है, एक ही है। क्षणिक स्वभाव ही क्षणिक वस्तु है और क्षणिक स्वभाव और क्षणिक वस्तु में भेद करना बुद्धि की उपज है।

3.6 संसार में सब कुछ क्षणिक है

बौद्ध दर्शन के अनुसार 'सर्व क्षणिकम्' अर्थात सब कुछ क्षणिक है। संसार में केवल क्षणिक धर्मों का प्रवाह है। ये धर्म दो प्रकार के हैं— चेतन धर्म, जिसे विज्ञान कहा जाता है और अचेतन धर्म जिसे भौतिक परमाणु कहा जाता है। इन क्षणिक विज्ञानों की और इन क्षणिक परमाणुओं की अलग—अलग धाराएं निरन्तर प्रवाह में पूर्वगामी क्षणिक धर्म कारण हैं और उत्तरगामी क्षणिक धर्म कार्य हैं। कारण क्षण उत्पन्न होते ही कार्य क्षण को जन्म देकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण इन क्षणिक धर्मों का उत्पाद—विनाश होता रहता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी वस्तु की सत्ता कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति पायी जाती है। बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि 'अर्थक्रियाकारित्वं लक्षणं सत्' अर्थात किसी वस्तु में अन्य वस्तु को स्थायी एवं नित्य मान लिया जाए, तो उसमें किसी वस्तु को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः 'सत्' संसार के पदार्थों की व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता है। बीज की सत्ता है, क्योंकि उसमें अंकुर उत्पन्न करने की क्षमता है। अंकुर की सत्ता है, क्योंकि उसमें तने को उत्पन्न करने की क्षमता है इत्यादि। इस प्रकार सत्ता वस्तु में परिवर्तन लाने की यह क्षमता नहीं पायी जाती है। यदि वस्तुओं में भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल में परिवर्तन नहीं होता, तो वे भिन्न—भिन्न समयों में भिन्न—भिन्न प्रकार के कार्य कैसे करतीं? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि संभाव्य शक्ति तो स्थायी है और यह अन्य शर्तों के पूरी होने पर वास्तविक रुप में आ जाती है, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जिसके अन्दर किसी कार्य को करने की शक्ति होती है, वह उसे कर देता है। यदि वह वैसा नहीं कर सकता तो उसमें शक्ति होती है वह उसे कर देता है। यदि वह वैसा नहीं कर सकता तो उसमें शक्ति नहीं हो सकती। यदि अवस्थाओं के कारण परिवर्तन होता है, तो केवल उन्हीं अवस्थाओं के कारण परिवर्तन होता है, तो केवल उन्हीं अवस्थाओं का अस्तित्व है और उन अवस्थाओं से भिन्न स्थायी वस्तुओं का अस्तित्व है और उन अवस्थाओं से भिन्न स्थायी वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार यदि अस्तित्व से तात्पर्य कार्य कारणभाव की क्षमता है, तो जो सत् है, वह क्षणिक ही हो सकता है—'यत—सत् तत्क्षणिक'। बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिकत्व का

यह विचार केवल बीज पर ही लागू नहीं होता है, अपितु संसार की सभी वस्तुओं पर लागू होता है। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद के सिद्धान्त के द्वारा यह प्रतिपादित करता है कि संसार की सभी वस्तुएं क्षणिक एवं परिवर्तनशील हैं।

3.7 सर्वास्तिवाद में क्षणिकवाद की व्याख्या

बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी हीनयानी शाखा के वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दार्शनिक क्षणिकवाद को लेकर दो प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं– 'सर्व क्षणिकम्' और 'सर्व अनात्मकम'। 'सर्व क्षणिकम्' के अनुसार केवल क्षणिक क्षर्मों की ही सत्ता है। क्षणिक धर्मों की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है। इसे 'सन्तानवाद' कहते हैं। ये धर्म दो प्रकार के हैं। चेतन एवं भौतिक परमाणु। ये दोनों परस्पर स्वतंत्र एवं सत् हैं। चेतन धर्म विज्ञान कहलाते हैं और जड़ धर्म भौतिक परमाणु। इन क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक भौतिक परमाणुओं की अलग–अलग धाराएं प्रवाहित हो रही हैं।

'सर्व अनात्कम्' के द्वारा बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी हीनयानी शाखा के वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के दार्शनिक यह स्पष्ट करते हैं कि संसार में न कोई नित्य द्रव्य है और न भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य। द्रव्यता, एकता, तादात्म्य, नित्यता आदि मानसिक उपचार मात्र हैं। सत् केवल क्षणिक धर्म हैं। ये क्षणिक धर्म मिलकर अपने संघात बनाते रहते हैं जो निरन्तर परिवर्तशील हैं। इसे संघातवाद कहते हैं। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्ध माने जाते हैं– रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें रुप स्कन्ध भौतिक है, जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं से बनता है, शेष चारों स्कन्ध मानसिक हैं। इन क्षणिक पंच संघात को 'पुद्गल' या 'आत्मा' कहते हैं और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। किन्तु ये दोनों संघात उपचार मात्र हैं। दोनों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं हैं। वास्तविक सत्ता क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं की है, जिनका प्रवाह निरन्तर चल रहा है। कालान्तर में योगाचार विज्ञानवाद ने जड़ तत्व के प्रवाह को स्वीकार किया। योगाचार विज्ञानवादी इस बात पर बल दिया कि क्षणिक विज्ञान ही जड़ जगत् के रुप में प्रतीत होते हैं। माध्यमिक शून्यवाद अपनी स्थापना में वस्तु के साथ विज्ञान को भी अस्वीकार कर देता है। वह सत्ता को प्रपंचशून्य और जगत् को स्वभावशून्य अनिर्वचनीय घोषित कर देता है।

3.8 अनात्मवाद

बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त से 'अनात्मवाद' प्रतिफलित होता है। अनात्मवाद को 'नैराम्यवाद' भी कहा जाता है। यद्यपि कुछ विचारकों का यह मानना है कि बौद्ध दर्शन का 'अनात्मवाद' का सिद्धान्त केवल आत्मा की व्याख्या से सम्बद्ध मान्यता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि इससे आत्मा एवं भौतिक जगत् दोनों की ही व्याख्या होती है। जब गौतम बुद्ध 'सर्व अनात्मकम्' कहते हैं तो इसका अर्थ है कि किसी नित्य चेतन या जड़ द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। न तो आत्मा नामक नित्य द्रव्य का अस्तित्व है और न ही भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य का अस्तित्व है। द्रव्यता, एकता, तादात्म्य एवं नित्यता आदि कल्पनामात्र हैं। सत् केवल क्षणिक धर्म हैं। ये

क्षणिक धर्म मिलकर संघात बनाते रहते हैं जो निरन्तर परिवर्तनशील हैं। बौद्ध दर्शन के पंच स्कन्ध हैं– रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें रुप स्कन्ध भौतिक हैं और शेष चारों स्कन्ध मानसिक हैं।

3.8.1 पुद्गल

बौद्ध दर्शन में क्षणिक पंच स्कन्ध संघात को 'पुद्गल' या 'आत्मा' कहते हैं और क्षणिक परमाणु संघात को 'भौतिक–पदार्थ'। ये दोनों संघात इसलिए अनात्म हैं, क्योंकि इनकी नित्य एवं स्थायी सत्ता नहीं है।वास्तविक सत्ता क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं की है, जिनका प्रवाह निरन्तर चल रहा है। व्यापक अर्थ में बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद को इसी अर्थ में स्वीकार किया गया है।बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का यह अर्थ नहीं है कि गौतम बुद्ध आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते हैं। वास्तविकता यह है कि महात्मा बुद्ध ने परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट अपरिवर्तनशील, नित्य वस्तु की सत्ता को नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने इसी के आधार पर आत्मतत्व का विश्लेषण किया और स्थायी एवं नित्य आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अनात्मवाद का प्रतिपादन किया है। महात्मा बुद्ध आत्म तत्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि जब हम अपने आत्म तत्व का विश्लेषण करते हुए अन्दर की ओर देखते हैं, तो हमें सर्दी या गर्मी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, सुख या दुःख आदि का ही अनुभव होता है। इसलिए नित्य आत्मा या जीव की कल्पना अनुचित एवं अनावश्यक है। अनुभव से इन संवेदनों के अतिरिक्त किसी अपरिवर्तनशील एवं नित्य आत्मतत्व का ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः क्षणिक विज्ञानों की निरन्तर धारा प्रवाहित होती रहती है। हम जिसे आत्मा कहते हैं, वह इन्हीं क्षणिक विज्ञानों की धारा का नाम है या परिवर्तनशील क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है। गौतम बुद्ध नित्य आत्मतत्व की सत्ता में हमारे साधारण विश्वास का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि– "क्षणिक एवं परिवर्तनशील विज्ञानों की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है। विज्ञानों की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में एक सामान्य व्यापक तत्व है, जो विज्ञानों की निरन्तरता के रुप में आभासित होता है और इसे ही आत्मा कहा जाता है"

महात्मा गौतम बुद्ध अपने अनात्मवाद में किसी स्थायी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए यह भी स्वीकार करते थे कि जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवस्थित अवस्थाओं में एक प्रवाह या संतान है। विभिन्न अवस्थाओं की संतति को ही जीवन कहते हैं। इस संतति के अन्दर किसी अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्ववर्ती अवस्था से होती है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण–कार्य सम्बन्ध रहता है। इसलिए सम्पूर्ण जीवन में एकबद्धता की प्रतीति होती है। जीवन की इस एकबद्धता को रात भर जलते हुए दीपक के द्वारा समझा जा सकता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक की तत्कालीन अवस्थाओं पर निर्भर होती है। क्षण–क्षण में दीपक की अवस्थाएं बदलती रहती हैं। अतएव प्रतिक्षण दीपक की ज्योति भी भिन्न–भिन्न होती है, किन्तु ज्योतियों के भिन्न–भिन्न होने पर भी वे बिल्कुल अविच्छिन्न मालूम पड़ती हैं।

महात्मा गौतम बुद्ध आत्मा के पुर्नजन्म की अवधारणा को भी दीपक के ही दृष्टान्त से ही स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। बुद्ध का कहना है कि जिस प्रकार एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है। किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नही समझी जा सकती हैं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से पृथक हैं। उनमें केवल

अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु दोनों दो पृथक जीवन होगें। इस तरह पुनर्जन्म सर्वथा संभव है। हाँ पुनर्जन्म का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा नित्य है और एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका प्रवेश हो सकता है।

बौद्ध दर्शन पाश्चात्य दार्शनिक विलियम जेम्स की तरह आत्मा को विज्ञानों का प्रवाहमात्र मानता है। बौद्ध दर्शन विलियम जेम्स की ही भांति यह मानता है कि वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था है। इसलिए बिना आत्मा में विश्वास किये ही हम स्मृति का उत्पादन कर सकते हैं। महात्मा बुद्ध का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो आत्मा के यथार्थ रुप को नही समझते हैं, उन्हीं का इसके विषय में भ्रान्त विचार रहता है। ऐसे व्यक्ति आत्मा को सत्य मानकर उसमें आसक्त होते हैं। उनकी आकांक्षा रहती है कि मोक्ष को प्राप्त कर आत्मा को सुखी बनावें। बुद्ध कहते हैं कि किसी आदृष्ट, अश्रुत तथा सुन्दरी रमणी से प्रेम रखना जिस प्रकार हास्यापद है उसी प्रकार अदृष्ट एवं अप्रमाणित आत्मा से भी प्रेम रखना हास्यापद है। आत्मा के प्रति अनुराग रखना मानो एक ऐसे प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी तैयार करना है, जिस प्रासाद को किसी ने कभी देखा तक नहीं है।

महात्मा बुद्ध के अनुसार मनुष्य एक समष्टि का नाम है। जिस प्रकार चक्र, धुरी, नेमि आदि के संघात को 'रथ' कहते हैं कि उसी प्रकार बाह्य रुपयुक्त शरीर, मानसिक अवस्थाएं और रुपहीन संज्ञा या विज्ञान के संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। महात्मा बुद्ध का यह कहना है कि अन्य दृष्टि से भी मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का संघात है, जिसमें पहला स्कन्ध 'रुप' है। दूसरा स्कंध वेदना, तीसरा स्कंध संज्ञा, चौथा स्कन्ध संस्कार और पाँचवा स्कन्ध विज्ञान है। इस संघात को उपनिषद् की शब्दावली में नाम रुप भी कहा गया है।

3.9 बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के प्रति अन्य भारतीय दर्शनों का दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया हुई। सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन का समकालीन जैन दर्शन क्षणिकवाद को अस्वीकार करता है। जैन दर्शन क्षणिकवादियों पर व्यंग करते हुए कहता है कि यदि बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो 'कृत्हानि और अकृत्लाभ के दोष, दुःख एवं निर्वाण में दोष, स्मृति–नाश के दोष से कैसे बचा जा सकता है। क्षणिकवाद में आस्था रखने वाले बौद्ध दार्शनिक निश्चय ही अत्यन्त साहसिक हैं–

''कृतप्रणाशात्कृत्कर्म भोगभव मोक्ष स्मृतिभङ्गदोषान्'।

उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन अहो। महासाहसिक परस्ते।।''

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य है कि क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर कर्म का सिद्धान्त असंगत होता है; दुःख एवं निर्वाण के विचार में दोष आता है तथा स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या करना कठिन हो जाता है।

आचार्य शंकर ने 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखे गये अपने भाष्य में क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद की आलोचना करते हुए आत्मा की नित्य सत्ता पर बल दिया है। कुमारिल आदि मीमांसक भी बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद को अस्वीकार करते हैं। सामान्यतः क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के विरुद्ध निम्नलिखित प्रश्न उठाये जाते हैं–

1. क्षणिक विषयों में कारणतत्व नहीं हो सकता। कार्योपत्ति के लिए कारण की सत्ता एक से अधिक क्षणों तक होनी चाहिए।
2. सामान्यतः बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद में किसी सन्तति का कभी अन्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में निर्वाण प्राप्त व्यक्ति या अर्हत् में 'आत्म–'सन्तति' का समापन कैसे संभव होगा? पुनश्च वहीं सत्–है जिसमें अर्थाक्रियाकारी शक्ति हो। निर्वाण प्राप्ति व्यक्ति या अर्हत् में अर्थक्रियाकारित्व निरुद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में या तो निर्वाण के आदर्श के अलभ्य समझकर त्यागना पड़ेगा या निर्वाण चाहने वाले की सन्तति को असत् मानना पड़ेगा। यदि निर्वाण प्राप्त करने वाला ही नहीं होगा तो कौन निर्वाण प्राप्त करेगा?
3. यदि सब कुछ क्षणिक है तो दुःख भी क्षणिक होगा। अतएव उसे दूर करने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की सम्पूर्ण नैतिक साधना 'अष्टांगिक मार्ग' निरर्थक और अनावश्यक हो जाता है। अतएव कोई भी व्यक्ति अगले क्षण में नष्ट हो जाने के भय से 'निर्वाण' की प्राप्ति के लिए कठोर साधना क्यों करेगा?
4. अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद के आधार पर ज्ञान की व्याख्या का भी समाधान नहीं हो सकता। यदि आत्मा जैसी कोई नित्य सत्ता ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में विषयों द्वारा अनुभवों का जो संश्लेषण होगा, वह संवेदनमात्र होगा और उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।
5. बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद में पुनर्जन्म की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती है; क्योंकि पुनर्जन्म के लिए नित्य आत्मा की सत्ता में विश्वास आवश्यक है।
6. अनात्मवाद में विश्वास कर्मवाद के नैतिक सिद्धान्त को अप्रासागिक बना देता है। इसके द्वारा 'कृतप्रणाश एवं अकृताभ्युपगम' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
7. क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद में प्रत्यभिज्ञा एवं स्मृति की व्याख्या नहीं जो पाती है। बिना नित्य एवं स्थायी आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये प्रत्यभिज्ञा एवं स्मृति की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

3.10 निष्कर्ष

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद की आलोचना करते हुए आत्मा की नित्य सत्ता पर बल दिया। आचार्य शंकर के अनुसार किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण की सत्ता एक से अधिक क्षणों तक होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि क्षणिक तत्वों की उत्पत्ति को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी बिना किसी नित्य सत्ता को स्वीकार किये इनमें संयोग नहीं हो सकता। यदि क्षणिकवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो निर्वाण के आदर्श को अलभ्य समझकर त्यागना पड़ेगा या निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील लोगों की सन्तति को असत् मानना पड़ेगा। यदि सब कुछ क्षणिक मान लिया जाएगा, तो निर्वाण भी क्षणिक होगा और

बौद्ध दर्शन की सम्पूर्ण नैतिक साधना निरर्थक एवं अनावश्यक हो जाएगी। इसके अतिरिक्त आत्मा क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है तो अनुभवों का संश्लेषण संभव न होगा और जो भी संवेदन होगा उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। पुनर्जन्म की अवधारणा भी अनात्मवाद सिद्धान्त में खण्डित हो जाती है। अनात्मवाद का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त को भी अप्रासांगिक बना देता है; क्योंकि बिना एक स्थायी सत्ता को माने कर्मफल की व्याख्या संभव नहीं है। अतएव यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अपने क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद सिद्धान्त के द्वारा दिखाया है कि आत्मा का प्रतिक्षण पुनर्जन्म होता रहता है। बुद्ध की देशना में यद्यपि मनुष्य किन्हीं दो क्षणों में ही वहीं नहीं रहता; तथापि वह बिल्कुल भिन्न भी नहीं होता है। अतएव पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त की बिल्कुल नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है। परन्तु बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद का अभी तक कोई समुचित समाधान नहीं प्राप्त हुआ है।

3.11 सारांश

बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त अनित्यवाद में प्रतिफलित होता है, जिसके अनुसार संसार में कुछ भी स्थायी या नित्य नहीं है। धम्मपद में स्पष्टतः कहा गया है कि– ''जो नित्य एवं स्थायी मालूम पड़ता है, वह भी विनाशी है, जो महान मालूम पड़ता है, उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है, वहाँ मरण भी है।'' इस प्रकार बुद्ध की देशना में 'सर्व क्षणिकम्' अर्थात सब कुछ क्षणिक है। संसार केवल क्षणिक धर्मो का प्रवाह है। ये धर्म दो प्रकार के हैं– चेतन धर्म, जिसे विज्ञान कहा जाता है और अचेतन धर्म जिसे भौतिक परमाणु कहा जाता है। इन क्षणिक विज्ञानों की और इन क्षणिक परमाणुओं की अलग–अलग धाराएँ निरन्तर प्रवाहशील हैं। क्षणिक धर्मों के निरन्तर प्रवाह में पूर्वगामी क्षणिक धर्मों का उत्पाद–विनाश होता रहता है।

बुद्ध की देशना में सत् का लक्षण है– कार्योत्पादक क्षमता का होना। बुद्ध कहते हैं कि 'अर्थ क्रियाकारित्वलक्षमं सत्' अर्थात जिसमें कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो वही सत् है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद के कारण–कार्य–प्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान क्षणिक धर्म ही सत् है। 'यत् क्षणिकम् तत् सत्'। इस अर्थ में क्षणिक विज्ञान एवं क्षणिक परमाणु सत् हैं। क्षणिकवाद का दूसरा उद्घोष है– 'सर्वं अनात्मकम्' अर्थात कोई नित्य द्रव्य नहीं है। न तो कोई 'आत्मा' या 'पुद्गल' नामक चेतन द्रव्य है और न ही कोई भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य। वस्तुतः संसार क्षणिक विज्ञानों और क्षणिक परमाणुओं का सन्तान है। इसलिए क्षणिकवाद को 'सन्तानवाद' की भी संज्ञा दी गयी है। क्षणिकवाद 'संघातवाद' के रुप में भी जाना जाता है; क्योंकि विज्ञान एवं परमाणु मिलकर अपने संघात या समुच्चय बनाते रहते हैं।

3.12 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही तार्किक विकास है?
2. बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। यह अन्य भारतीय दर्शन के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त से किस रुप में भिन्न है?

3.13 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

इकाई—4

अनात्मवाद

इकाई की रुपरेखा—

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

- आर्य सत्य
- प्रतीत्य समुत्पाद

4.2 स्वरुप

- क्षणिकवाद, आत्मा शाश्वत

4.3 क्षणिक संवेदनाए, डेविड ह्यूम

4.4 नैरात्मवाद

4.5 धर्म

4.6 पुद्गल

4.7 स्कन्धवाद

4.7.1 पंचस्कंध

4.7.2 मेनाण्डर

4.8 पुनर्जन्म

व्यक्तित्व

दीपक

4.9 आलोचना

- अपूर्ण सिद्धान्त
- अनात्मवाद—निर्वाण
- स्मृति—कर्म सिद्धान्त
- ज्ञान की समस्या

4.10 समीक्षा

4.11 निष्कर्ष

- परिवर्तनशील आत्मा

4.12 सारांश

4.13 बोध प्रश्न

4.14 उपयोगी पुस्तकें

4.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन के केन्द्रीय विषय आत्मा की चर्चा समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा की जाती है। उपनिषदीय दर्शन में आत्मा को शाश्वत मानकर ब्रह्म के समकक्ष या ब्रह्म ही कहा जाता है। यद्यपि सांख्य, मीमांसा जैसे सम्प्रदाय ईश्वर को स्वीकार नहीं करते तथापि आत्मा को शाश्वत मानते हुए व्याख्याएँ करते हैं। जैन चिन्तक भी निरीश्वरवाद के साथ आत्मा को स्वीकार करते हैं जबकि बौद्ध दार्शनिक आत्मा की शाश्वतता का खण्डन करके अनात्मवादी हो जाते हैं, जिनकी व्याख्या का आधार बौद्धों का केन्द्रीय सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद है।

भारतीय दर्शन में बौद्ध सम्प्रदाय चार आर्य सत्यों के आधार पर सम्पूर्ण दार्शनिक विवेचना करते है। इनमें से द्वितीय दुःख का कारण एवं तृतीय दुःख निरोध से विकसित प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धों का केन्द्रीय सिद्धान्त है, जिसकी व्याख्या से अनात्मवाद सिद्ध होता है।

4.2 स्वरुप

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है कि इसके होने से (प्रतीत्य) यह होता है (समुत्पाद)। अर्थात् कारण के होने पर कार्य होता है और कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। इस प्रकार कारण पर निर्भर रहकर कार्य की उत्पत्ति होती है। चूँकि प्रत्येक सत्ता कारण पर निर्भर है और कारण के नष्ट होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। अतः संसार की सभी वस्तुए उत्पत्ति एवं विनाश के अधीन होने के कारण स्वाभाव से अनित्य है। अर्थात् कोई भी वस्तु शाश्वत नही है। यह अनित्यवाद आत्मा के संदर्भ में अनात्मवाद कहलाता हैं।

बौद्धों के अनुसार सबकुछ परिवर्तनशील है इसलिए भौतिक वस्तुओं के साथ–साथ आत्मा का अस्तित्व नहीं है। उल्लेखनीय है कि दार्शनिक परम्परा को अजर–अमर अविनाशी आदि माना गया है। जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त और उसके पश्चात भी विद्यमान है किन्तु बौद्ध दार्शनिक शाश्वत आत्मा की संकल्पना को अतार्किक मानते हुए अनात्मवादी हो जाते हैं।

4.3 क्षणिक संवेदनाए, डेविड ह्यूम

आत्मा के सन्दर्भ में बौद्धों का मत है कि वह ''शाश्वत न होकर, क्षणिक संवेदनाओं और अनुभूतियों का प्रवाह मात्र है। हमें नित्यता का ज्ञान अथवा प्रतीत सादृश्य एवं सातन्य के कारण होती है। अलग–अलग क्षणिक संवेदनाओं तथा अनुभूतियों में सादृश्यता होती है और उनमें एक प्रकार का सातत्य भी पाया जाता है। जिसके फलस्वरुप आत्मा के शाश्वत होने का भ्रम हो जाता है।

4.4 नैरात्मवाद

बौद्धों के समान पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम भी मानते है कि परस्पर भिन्न एवं पृथक–पृथक संवेदनाओं का समूह ही आत्मा है जो कि सहचर्य के कारणय शाश्वत प्रतीत होती है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि जब भी मै आत्मा को जानने का प्रयास करता है तो सुख–दुःख आदि क्षणिक संवेदनाओं के अतिरिक्त कोई अनुभव नहीं होता।

4.5 धर्म

इस प्रकार बौद्ध आत्मा को क्षणिक संवेदनाओं का प्रवाह कहकर नैरात्मवाद सिद्ध करते है। नैरात्म को दो रुपों में व्याख्यायित किया जाता है। प्रथम धर्म नैरात्म –जिसके अनुसार जगत् के मूल में कोई शाश्वत सत्ता नहीं है। द्वितीय पुद्‌गल नैरात्म–जिसके अनुसार कोई शाश्वत आत्मा तत्व नहीं है।

उल्लेखनीय है कि बौद्ध दार्शनिक जीव के लिए पुद्गल एवं सत्काय शब्द का प्रयोग करते है। पुद्गल का अर्थ है– जो उत्पत्ति जीर्णता एवं विनाश से युक्त हो एवं सत्काय का अर्थ कि इस जीवित काया को ही आत्मा समझना। अतः दोनों शब्द का निहितार्थ यही है कि शाश्वत आत्मा का अस्तित्व नही है।

4.6 पुद्गल

उपर्युक्त व्याख्या के सन्दर्भ में स्वाभाविक प्रश्न है कि आत्मा का अस्तित्व नही है तो व्यावहारिक जगत् में इसकी प्रतीत कैसे सम्भव है? इसके समाधान में बौद्ध दार्शनिक आत्मा को पंचस्कन्धों का संघात कहते है। उनके अनुसार आत्मा नाम, रुप का संघात है। नाम का अर्थ है– मानसिक एवं भौतिक से युक्त अथवा इनका संघात ही आत्मा है जिसे पंचस्कन्ध के रुप में व्याख्यायित किया जाता है।

4.7 स्कन्धवाद

शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर स्कन्ध शब्द का अर्थ वृक्ष का तना या समूह माना जाता है, जिसके अनुसार स्कन्ध शब्द का अर्थ शाखा या समूह निर्धारित होता है। आत्मा रुप वेदना संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का समूह मात्र है। रुप का अर्थ शरीर, सुख, दुख की अनुभूति वेदना, संज्ञा एक निश्चित ज्ञान एवं इन तीनों को सम्बद्ध करने का कार्य संस्कार करता है। विज्ञान का अर्थ चेतना है इन पाँचों में न तो कोई आत्मा है और न ही इन पाँचों से पृथक कोई आत्मा है।

4.8 पुनर्जन्म

बौद्ध दार्शनिक 'नागसेन–मिनाण्डर' संवाद से संघातवाद स्पष्ट करते है। इसमें नागसेन कहते है कि जिस प्रकार पहिया, धुरी लगाम, घोडे आदि का संघात रथ है उसी प्रकार आत्मा भी पंचस्कन्धों का संघात है। जब तक इनका संघात उपस्थिति रहता है तब तक आत्मा को अस्तित्व प्रतीत होता है। इसके नष्ट होते ही आत्म तत्व का विलोच हो जाता है। अतः संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। जीवों की विभिन्न अवस्थाओं में कारण–कार्य सम्बन्ध होता है। इसलिए सम्पूर्ण जीवन आत्म तत्व की शाश्वतता आधारित प्रतीत होता है।

पुनः समस्या है कि आत्मा शाश्वत नही है, तो बौद्ध दार्शनिक पुनर्जन्म स्मृति आदि को कैसे व्याख्यायित करते है?

4.9 आलोचना

इस सन्दर्भ में बौद्धों का मत है कि किसी नित्य आत्मा की सत्ता नही है। व्यक्ति का जीवन विभिन्न क्रमबद्ध अवस्थाओं की एक संतति है। इस संतति में किसी अवस्था का प्रादुर्भाव उसकी पूर्ववर्ती अवस्था से होता है। पुनः वह अवस्था भावी अवस्था को उत्पन्न करती है। इस प्रक्रिया में कारण कार्य सम्बन्ध होने से मनुष्य के व्यक्तित्व का सातत्य बना रहता है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति प्रतिक्षण बदलती रहती है किन्तु संतति के कारण उसे हम एक दीपशिखा समझ लेते है उसी प्रकार चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में संतति का क्रम अतीत जीवन से वर्तमान जीवन तक, वर्तमान जीवन से अन्तिम अवस्था तक एवं अन्तिम अवस्था से भावी जीवन की प्रारम्भिक अवस्था तक बना रहता है। इससे पुनर्जन्म सम्भव होता है।

उपर्युक्त आधार पर बौद्ध दार्शनिक स्मृति प्रत्याभिज्ञा को सम्भव मानते है। उनके अनुसार अनुभव की प्रत्येक अवस्था तिरोहित होते ही अगली अवस्था में अभिव्यक्त हो जाती है। इसलिए स्मृति प्रत्यभिज्ञा सम्भव होती है। इस सन्दर्भ में डेविडसन का कथन उल्लेखनीय है कि बौद्धों में पुनर्जन्म आत्मा का न होकर चेतना का होता है।

4.10 समीक्षा

(1) बौद्धों के अनात्मवाद को स्वीकार करने से यह प्रश्न अनुत्तरित हो जाता है कि निर्वाण किसे प्राप्त होता है अथवा निर्वाण हेतु प्रयत्नशील क्षणिक संवेदनाओं का आधार कुछ है या नही। प्रो0 हाकिन्स के अनुसार आत्मा केवल विभिन्न अवस्थाओ को योग नही है बल्कि पूर्ववर्ती अवस्थाओं का महायोग है।

(2) क्षणिक संवेदनाओं को आत्मा कहने से स्मृति प्रत्यभिज्ञा, कर्मवाद की व्याख्या तार्किक रूप से संभव नही है। प्रत्येक व्यक्ति का अतीत का ज्ञान होता है जिसके लिए अधिष्ठाता शाश्वत तत्व आवश्यक है। इसके अतिरिक्त आत्मा क्षणिक संवेदनाओं का आधार मात्र है तो कर्मवाद अप्रसांगिक हो जायेगा। कर्मफल भोगने हेतु नित्य आत्मा का होना आवश्यक है।

(3) पुनर्जन्म की अवधारणा शाश्वत आत्मा के साथ जुड़ी है। जब बौद्ध यह कहते है कि पुनर्जन्म प्रतिक्षण होता है अथवा पुनर्जन्म चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का होता है तो वे इस स्थिति में पुनर्जन्म की सामान्य संकल्पना को ही बदल देते है।

(4) पुनः यदि बौद्ध विद्धान बिना आत्मा के पुनर्जन्म संभव मान सकते है तो कर्ता के बिना कर्म को भी सम्भव कर सकते है। यहाँ यह भी महत्वपूर्ण है कि अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद के आधार पर ज्ञान की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। एक नित्य आत्मा के अभाव में संवेदन तो होते रहेंगे लेकिन ज्ञान नहीं हो पायेगा।

4.11 निष्कर्षः

उपर्युक्त आपत्ति पर अभिधम्म घोष में कहा गया है कि आकाश वस्तुओं के उत्पत्ति एवं विनाश का स्वाभाव एवं निर्वाण जैसे असंस्कृति धर्म कारण कार्य परम्परा से बाहर होते हैं। अतः निर्वाण भी श्रृखंला के बाहर है। पुनः स्मृति, प्रत्यभिज्ञा कर्म सिद्धान्त के संदर्भ में बौद्धों का स्पष्टीकरण है कि कोई व्यक्ति दो क्षणों में एक ही नहीं होता तथापि वह सर्वथा भिन्न भी नहीं होता।

यहाँ बौद्धों का स्पष्टीकरण सिद्ध करता है कि वे शाश्वत आत्मा की बजाय तरल आत्मा को स्वीकार करते है जो परिवर्तनशील होते हुए भी शाश्वत बनी रहती है। प्रो0 हिरियन्ना के अनुसार बौद्ध आत्मा का खण्डन करते हुए भी आत्मा को मान लेते हैं। फिर भी आत्मा की शाश्वता का खण्डन करना नवीन प्रयास था जिसने चिन्तन को नये आयाम दिए।

4.12 सारांश

बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्ध माने गये हैं–रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान। इसमें प्रथम स्कन्ध रुप भौतिक है और शेष चारों स्कन्ध मानसिक हैं। इस क्षणिक पंचस्कन्ध संघात को व्यवहार में 'पुद्गल' या 'आत्मा' कह दिया गया है और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। हीनयान ने क्षणिक प्रवाह को समझाने के लिए नदी की जल की धारा एवं दीपशिखा के दृष्टान्त दिये हैं। जिस प्रकार नदी में एक जल समूह दूसरे जल समूह के समान है; किन्तु वही नहीं है। एक दीपशिखा दूसरी दीपशिखा के समान है, किन्तु वही नहीं है। इसी प्रकार एक क्षणिक विज्ञान या परमाणु दूसरे क्षणिक विज्ञान या परमाणु के समान हैं; किन्तु बिल्कुल वहीं नहीं है। अतएव क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं के प्रवाह के निरन्तरता के कारण 'समानता' एवं 'एकता' का बोध केवल भ्रान्तिमात्र है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम का मत बौद्ध मत से पर्याप्त समानता रखता है; जब वे कहते हैं कि– ''

हमें प्रत्यक्ष से विज्ञानधारा और इन्द्रिय–सम्वेदन धारा के अतिरिक्त किसी चेतन या जड़ द्रव्य का अनुभव नहीं होता है। तथाकथित आत्मद्रव्य और जड़द्रव्य उन विभिन्न क्षणिक विज्ञानों और इन्द्रिय संवेदनों के पुंज के अतिरिक्त कुछ नहीं है; जो अकल्पनीय वेग से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं और जिनके परिवर्तन तथा गति की अक्षुण्ण धारा निरन्तर बह रही है। इनमें सादृश्य, आनन्तर्य और नैरन्तर्य तो हैं; किन्तु एकतत्व, द्रव्यत्व एवं नित्यत्व नहीं है।'' परन्तु ह्यूम ने कारण–कार्यभाव का भी खण्डन कर डाला है; जबकि बौद्ध दर्शन का हीनयान सम्प्रदाय कारण–कार्य–सम्बन्ध को मान्यता प्रदान करता है। अतएव बौद्ध दर्शन का ही हीनयान सम्प्रदाय वैचारिक दृष्टि से ह्यूम के दर्शन से श्रेष्ठ है। ह्यूम के समान बौद्ध दर्शन इन्द्रियानुभववादी नहीं है; क्योंकि वह समस्त ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं करता। बौद्ध दर्शन काण्ट के समान बुद्धि–विकल्पों की अनिवार्यता को स्वीकार करता है क्योंकि वह समाणि में प्रकाशित निर्विकल्पनीय प्रज्ञा को स्वीकार करता है; क्योंकि इसके बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता।

बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त को नैरात्मवाद भी कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के क्षणिक पंच स्कन्ध संघात को 'पुद्गल' या 'आत्मा' कहते है और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। ये दानों संघात इसलिए अनात्म हैं; क्योंकि इनकी नित्य एवं स्थायी सत्ता नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि हम जिसे आत्मा कहते हैं; वह क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है जो निरन्तर परिवर्तनशील है।

4.13 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही तार्किक विकास है?
2. बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। यह अन्य भारतीय दर्शन के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त से किस रुप में भिन्न है?

4.14 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

....................000.....................

इकाई–5

निर्वाण और बोधिसत्व

इकाई की रुपरेखा–

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ

5.3 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का भेद

5.4 निर्वाण एक अनिवर्चनीय अवस्था है

5.5 बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप की व्याख्या

5.5.1 सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

5.5.2 विज्ञानवादी एवं शून्यवादी सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

5.6 बोधिसत्व की अवधारणा

5.7 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अभावात्मक एवं भावात्मक पक्ष

5.8 निष्कर्ष

5.9 सारांश

5.10 बोध प्रश्न

5.11 उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य–

गौतम बुद्ध के दर्शन का विकास ही 'निर्वाण' हेतु हुआ था। 'निर्वाण' को ही बौद्ध दर्शन में मानव जीवन का परम लक्ष्य बताया गया है। 'निर्वाण' ही बौद्ध साधना प्रमुख उद्देश्य है। यह बौद्ध दर्शन चार आर्य सत्यों में तृतीय आर्य सत्य है। महात्मा बुद्ध ने तृतीय आर्य सत्य को 'दुःख निरोध' के रुप में विवेचित किया था। इसलिए बौद्ध दर्शन का 'निर्वाण' दुःख निरोध की अवस्था है। महात्मा बुद्ध संसार में दुःख के साम्राज्य से छुटकारा दिलाने के लिए ही सम्पूर्ण मानव जाति को बौद्ध दर्शन का उपदेश दिया। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' की अवस्था को प्राप्त मनुष्य को अर्हत् एवं बोधिसत्व के आदर्ष को अपने जीवन में साकार करना पड़ता है।

5.1 प्रस्तावना

महात्मा बुद्ध ने द्वितीय आर्य सत्य में दुःख के कारण के रुप में प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का विवेचन किया है। महात्मा बुद्ध के दुःख के कारण की खोज का उद्‌देष्य दुःख से सम्पूर्ण मानव जाति को मुक्ति दिलाना था। इसीलिए महात्मा बुद्ध अपने सम्पूर्ण जीवन में दुःख से सम्पूर्ण मानव जाति छुटकारा दिलाने में लगे रहे। महात्मा बुद्ध का यह स्पष्ट मत था कि यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाए तो दुःख का भी अन्त अवष्य हो जायेगा। जब कारण का ही अभाव होगा तो कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी? महात्मा बुद्ध ने उस अवस्था को, जिसमें मानव सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है, 'दुःख निरोध' की अवस्था कही है। यह दुःख निरोध बौद्ध दर्शन का तृतीय आर्य सत्य है। भारतीय दर्शन में मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रुप में जिसे मोक्ष कहा गया है उसे ही बौद्ध दर्शन में निवार्ण की संज्ञा से अभिहित किया गया है। निर्वाण को पाली में 'निब्बान' कहा जाता है। 'निर्वाण' बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय है, जिसकी प्राप्ति के ही लिए बौद्ध दर्शन। चतुर्थ आर्य सत्य की स्थापना की गयी है। महात्मा बुद्ध दुःखों के मूलभूत कारण के रुप में 'अविद्या' को माना है। अतएव 'अविद्या' के 'निरोध' से सम्पूर्ण दुःख चक्र का निरोध किया जा सकता है। इसीलिए दुःख निरोध को ही निर्वाण कहा गया है। यही दुःख निरोध ही बुद्ध के शिक्षाओं का सार है।

5.2 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ–

बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है, बुझ जाना या ठण्डा पड़ जाना' है। 'निर्वाण' के शाब्दिक अर्थ को दृष्टि में रखते हुए कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने निर्वाण अर्थ जीवन के अन्त के रुप में ग्रहण किया है। इस प्रकार के बौद्ध दार्शनिकों का यह मानना है कि जिस प्रकार दीपक के बुझने या ठण्डा पड़ने से वह शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवन के अन्त होने या मृत्यु होने से समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है, समस्त दुःख शान्त हो जाते हैं। इस अवस्था में पंचस्कन्धों के बने रहने की अविच्छिन्न प्रक्रिया का भी अन्त हो जाता है, परन्तु अधिकांश बौद्ध दार्शनिक महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का निहितार्थ और लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए 'निर्वाण' के इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि 'निर्वाण' का अर्थ जीवन का अन्त किया जाए तो यह कहना भी अनुचित होगा कि महात्मा बुद्ध अपने जीवन काल में 'निर्वाण' को प्राप्त किया था। अतएव अब प्रश्न यह उठता है कि निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त नहीं है, तो फिर क्या है? वस्तुतः अधिकांश बौद्ध दार्शनिकों ने 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ 'बुझ जाने' या 'ठण्डा पड़ जाने' का तात्पर्य 'दुःखों के बुझने या ठण्डा पड़ने से किया है। गौतम बुद्ध के चार आर्य सत्यों में भी यही अर्थ उभरकर आता है। यदि प्रथम आर्य सत्य दुःखों की गहन अनुभूति कराता है, तो तृतीय आर्य सत्य में दुःखों के अन्त की ओर ही संकेत होगा, जीवन के अन्त की ओर नहीं। यही दुःखों का अन्त ही निर्वाण है। स्पष्टतः दीपक के बुझने से दुःखों के विलोप हो जाने का संकेत मिलता है और ठण्डा हो जाने से दुःखों के शान्त हो जाने का अर्थ अभिप्रेत है। अश्वघोषकृत 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य में यह विचार व्यक्त किया गया है कि जिस प्रकार दीपक में डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है या ठण्डा पड़ जाता है, उसी

प्रकार दुःखों के समाप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष शान्त हो जाता है, बुझ जाता है, ठण्डा पड़ जाता है। इस प्रकार निर्वाण दुःखों का निरोध है। यह वह अवस्था है, जिसमें दुःखों का आत्यन्तिक अभाव होता है।

5.3 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का भेद

बौद्ध दर्शन में निवार्ण के दो भेद प्राप्त होते हैं— 'उपाधिशेष निर्वाण और निरुपाधिशेष निर्वाण। पहले प्रकार का निर्वाण जो उपाधिशेष निर्वाण है, पूर्णता प्राप्त सन्त पुरुष को उपलक्षित करता है, जिसमें पाँचों स्कन्ध अब भी सुरक्षित हैं, यद्यपि वह इच्छा शक्ति जो जन्म धारण करने के लिए विवष करती है, लुप्त हो जाती है। वस्तुतः उपाधिशेष निर्वाण जीवन के रहते हुए ही निर्वाण को प्राप्त कर लेना है। यदि कोई व्यक्ति राग–द्वेषों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध आचरण के साथ आर्य सत्यों का निरन्तर ध्यान करते हुए समाधि के द्वारा प्रज्ञा तक पहुँच जाता है तो उसका चित्त लोभ, मोह, राग–द्वेष से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का चित्त तृष्णा आदि सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा लेता है और वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। 'उपाधिशेष निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को 'अर्हत्' कहते हैं।

'निरुपाधिषेष निर्वाण' सन्त पुरुष की मृत्यु के पश्चात् एवं मृत्यु के उपरान्त सम्पूर्ण अस्तित्व के लोप की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति वेदान्त एवं सांख्य दर्शन 'जीवन्मुक्ति' एवं 'विदेह मुक्ति' के समान है, जिसमें जीवन के रहते हुए भी 'मोक्ष' को संभव बताया गया है और 'विदेहमुक्ति' को मृत्यु के उपरान्त संभव बताया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन का 'निर्वाण' मरणोपरान्त अवस्था का सूचक नहीं है। यह अवस्था है जो जीवित रहते हुए पूर्णता प्राप्ति के बाद प्राप्त होती है। यह अवस्था जीवन मुक्ति की अवस्था है, जिसमें सामान्य जीवन की संकीर्ण इच्छाओं का अन्त हो जाता है और मनुष्य पूर्ण शान्ति एवं समत्व का जीवन व्यतीत करता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में पुनर्जन्म एवं तन्जन्य दुःखों का प्रहाण हो जाता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति करता है। यह मनुष्य के मन के एक विषेष अवस्था का द्योतक है, जिसको प्राप्त करने वाला 'अर्हत्' कहलाता है। महात्मा बुद्ध के उपदेशों का निरन्तर चिन्तन मनन करने वाला बौद्ध अनुयायी 'निर्वाण' के इसी अवस्था को ही अपना लक्ष्य बनाता है।

5.4 निर्वाण एक अनिवर्चनीय अवस्था है

महात्मा बुद्ध ने तत्त्वमीमांसा प्रश्नों को 'अव्याकृत्प्रश्नानि' कहकर ऐसे प्रष्नों का उत्तर न देना ही श्रेयस्कर माना है। अतएव उन्होंने निर्वाण को भी 'अनिवर्चनीय अवस्था' ही माना है और निर्वाण का वाणी द्वारा निर्वचन संभव नहीं माना है और निर्वाण का वाणी द्वारा निर्वचन संभव नहीं माना गया है। निर्वाण की अवस्था अवर्णनीय अवस्था है। इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि यह है भी या नहीं। वास्तविकता यह है कि निर्वाण केवल दुःख के अन्त या दुःख से मुक्ति की अवस्था है। निर्वाण का भावात्मक वर्णन रोचक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ है। मिलिन्दपन्हों, जो बौद्ध दर्शन का एक गन्थ है, से ज्ञात होता है कि जब प्रख्यात बौद्ध भिक्षु नागसेन ने विभिन्न उपमाओं की सहायता से राजा मिलिन्दपन्हों को निर्वाण का स्वरुप समझाने का प्रयास किया,

तो उसने कहा कि ''निर्वाण समुद्र की भांति गहरा है, पर्वत की भाँति ऊँचा और मधु की भाँति मधुर है इत्यादि। नागसेन ने यह भी कहा कि जिन्हें निर्वाण के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है उन्हें उपमाओं की सहायता से निर्वाण का कोई ज्ञान नहीं कराया जा सकता। एक जन्मान्ध को उपमाओं की सहायता से रंग की कोई जानकारी नही दी जा सकती। इसीलिए समकालीन दार्शनिक डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार 'निर्वाण' न तो शून्य रुप है और न ही ऐसा जीवन है, जिसका विचार मन मे आ सके। यह अनन्त सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने का नाम है, यद्यपि गौतम बुद्ध प्रत्यक्षतः इसे स्वीकार नहीं करते हैं। चूंकि यह मानव के विचार क्षेत्र के परे का विषय है। अतएव केवल निषेधात्मक शब्दों के द्वारा ही इसका वर्णन किया जा सकता है। निर्वाण आत्मा की नित्य अवस्था है, क्योंकि यह संस्कार नहीं है और न ही अस्थायी तत्वों के एकीकरण से बना है। यही वह है जो स्कन्धों के पृष्ठभूमि में विद्यमान है, जबकि स्कन्ध उत्पत्ति एवं विनाश के अधीन हैं। चूँकि यह सबका मौलिक तत्व है, अतः यह वर्णनातीत अवस्था है।

डॉ0 दास गुप्त के अनुसार लौकिक अनुभव के रुप में 'निर्वाण' का निर्वचन मुझे एक असाध्य कार्य प्रतीत होता है। यह एक ऐसी स्थिति है, जहाँ सभी लौकिक अनुभव निषिद्ध हो जाते हैं। इसका विवेचन भावात्मक प्रणाली से शायद ही संभव है। डॉ0 कीथ का कथन है कि ''सभी व्यावहारिक शब्द अवर्णनीय का वर्णन करने में असमर्थ हैं।''

5.5 बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप की व्याख्या

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में 'निर्वाण' को मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य माना गया है और इसे ही बौद्ध दर्शन की षिक्षाओं का सार माना गया है।इस प्रकार बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' को सभी सम्प्रदायों द्वारा स्वीकार किया गया है, किन्तु निर्वाण के स्वरुप को लेकर उनके विचारों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। हीनयान में 'निर्वाण' अर्हत् पद है। अर्हत् का दूसरों के निर्वाण से कोई प्रयोजन नहीं है। बौद्ध दर्शन की शाखा में प्रत्येक व्यक्तिा अपना निर्वाण स्वंय प्राप्त करना है। महायान के अनुसार 'निर्वाण' का हीनयानी आदर्श अत्यन्त स्वार्थमूलक एवं हेय है। इस शाखा (महायान शाखा) में निर्वाण बोधिसत्व होना है। बोधिसत्व केवल अपने निर्वाण से नहीं सन्तुष्ट होता है। बोधिसत्व प्राणिमात्र के दुःख निरोध से ही सन्तुष्ट होता है।

5.5.1 सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

हीनयान शाखा के सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक सम्प्रदायों में, जिन्हें सर्वास्तिवादी कहा जाता है, निर्वाण की अवस्था को अविद्या, तृष्णा उपादान एवं तज्जन्य क्लेशों के अभाव की अवस्था माना जाता है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि पुद्‌गल के नैरात्म्य के ज्ञान से क्लेषावरण दूर हो जाता है तथा अविद्या एवं तज्जन्य तृष्णा और उपादन आदि के क्षय से क्लेश क्षय अर्थात 'निर्वाण' प्राप्त होता है। सर्वास्तिवादी में 'निर्वाण' को अच्युत, अभय, परम सुख, शान्त, अजर, अमृत, असंस्कृत, शिव आदि पदों से अभिहित किया गया है। मिलिन्दपन्हों से ज्ञात होता है कि निर्वाण आत्यान्तिक सुख है, दुःख से सर्वथा अमिश्रित अवस्था है, अवर्णनीय होने पर भी इसका लक्षणतया

वर्णन संभव है। यह निर्वाण न तो उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है और न उत्पादनीय है। यह निर्वाण धातु परम शान्ति है, परम आनन्द है, अति उत्तम है और असंस्कृत धर्म है। निर्वाण विषयक इन मान्यताओं को स्वीकार करने के बावजूद सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप को लेकर मतभेद पाया जाता है। वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य सत् मानते हैं। किन्तु सौत्रान्तिक इसे अभाव स्वरुप स्वीकार करते हैं, सौत्रान्तिक निर्वाण को हेतुफल परम्परा का उच्छेद मात्र स्वीकार करते हैं, तो वैभाषिक इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ मानते हैं।

5.5.2 विज्ञानवादी एवं शून्यवादी सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

निर्वाण के सम्बन्ध में महायान शाखा के विज्ञानवाद और शून्यवाद सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप को लेकर मतभेद पाया जाता है। विज्ञानवाद में वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदायों के विचारों का समन्वय पाया जाता है। इसमें वैभाषिक के निर्वाण विषयक द्रव्य सत्–विचार का और सौत्रान्तिक के अभावरुप विचार का समन्वय होता है। इसमें निर्वाण को बोधिलाभ तथा तथताभाव की प्राप्ति माना जाता है। विज्ञानवादियों के अनुसार निर्वाण बोधि होने के कारण सत् है, किन्तु वह द्रव्य अभाव न होकर अज्ञान का अभाव है। वह ज्ञान से अज्ञान का खण्डन है। अतएव विज्ञानवाद के अनुसार भाव और अभाव दोनों विज्ञान सत् हैं और इन दोनों का समन्वय समन्वय बोधि की अवस्था में होता है, जो निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था है।

शून्यवाद में 'निर्वाण' को 'शून्यता' कहा जाता है। नागार्जुन ने इसे उत्पाद–निरोध, शाश्वत उच्छेद, एक–अनेक और आगम–निर्गम इन चारों द्वन्द्वों से अतीत अवस्था माना है। माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) निर्वाण को चतुष्टकोटि विर्निर्मुक्त, सर्वदृष्टि प्रहाण निरवशेष कल्पनाक्षय, प्रंपचोंपशम् एवं शिव कहा है। शून्यवादियों के अनुसार तात्विक दृष्टि से 'संसार एवं निर्वाण' में कोई भेद नहीं ह। जो प्रतीत्य और उपादान की दृष्टि से आवागमनरुपी संसार है, वही अप्रतीत्य और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। निर्वाण सत् असत्, सदसत्–उभयरुप और न सत् तथा न असत् अनुभयरुप, इन चार कोटियों से परे होने के कारण एक अनिवर्चनीय अवस्था है।

वास्तविकता यह है कि उपनिष्पक्षीय ऋषियों की ही भाँति महात्मा गौतम बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के स्वरुप के विषय में किसी धारणा विशेष का निषेध किया है; क्योंकि उन्होंने भी निर्वाण को वर्णनीय अवस्था माना है। वस्तुतः गौतम बुद्ध ने तत्वमीमांसीय प्रश्नों पर 'अव्याकृत प्रश्नानि' कहकर मौन साध लिया था। परन्तु बौद्ध दर्शन के निर्वाण को लेकर अनेक निहितार्थ निकाले जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु महात्मा बुद्ध की निर्वाण की प्राप्ति के पश्चात् दुःख पीड़ित मानव के लिए उत्पन्न करुणा का संचार और लोककल्याण में उनकी सन्नद्धता इस बात का द्योतक है कि निर्वाण निष्क्रिय होने की अवस्था नहीं है। महात्मा बुद्ध स्वयं निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात् किस प्रकार जीवन पर्यन्त सर्वजनहिताय परिभ्रमण, धर्मप्रचार आदि कार्यो में लगे रहे। इस प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति केवल अपने निर्वाण से सन्तुष्ट होकर निष्क्रिय नही हो जाता है अपितु वह प्राणिमात्र को निर्वाण प्राप्त कराने के लिए आजीवन प्रयासरत रहता है। बौद्ध दर्शन में यह आदर्श महायान सम्प्रदाय के बोधिसत्व की अवधारणा में दृष्टिगोचर होता है।

5.6 बोधिसत्व की अवधारणा

बौद्ध दर्शन की महायान शाखा में मानव जीवन का नैतिक आदर्श 'बोधिसत्व' को माना गया है। बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ है– 'एक ऐसा व्यक्ति जिसका सारतत्व पूर्ण ज्ञान है। यह वह महाप्राणी है,जो सम्बोधि प्राप्त करता है। बोधिसत्व वह है जो सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्त कराना चाहता है और सभी दुःखी प्राणियों को उनके दुःख से त्राण दिलाना चाहता है। बोधिसत्व का सबसे बड़ा गुण महाकरुणा है जिसके कारण वह व्यक्तिगत निर्वाण तक ही सन्तुष्ट न रहकर दुःख से पीड़ित मानव जाति को दुःखों से मुक्त कराने में उनकी सहायता करता है। इस प्रकार बोधिसत्व के आदर्ष में आध्यात्मिकता के साथ–साथ सामाजिकता का भी समावेष है।महायान के अनुसार बोधिसत्व का जीवन करुणा एवं प्रज्ञा से संचालित होता है।

महायान शाखा में बोधिसत्व के लिए परिवर्त्त का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। परिवर्त्त का सिद्धान्त अन्य लोगों के कल्याण एवं लाभ के लिए पुण्य को संचित करने का सिद्धान्त है। यह कर्मो के आदान–प्रदान का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'बोधिसत्व' अपने पुण्यमय कर्मो के द्वारा दूसरों को दुःख मुक्त करता है और उनके पापमय कर्मो को स्वंय भोगता है। बोधिसत्व अपने को तब तक मुक्त नहीं समझता, जब तक संसार के अन्तिम व्यक्ति की दुःख निवृत्ति नहीं हो जाती है। इससे इस बात को बल मिला कि प्राणिमात्र के दुःख निवृत्ति के लिए प्रयासरत होना ही वास्तविक धर्म है। परिवर्त्त के सिद्धान्त ने बौद्ध धर्म की कर्म की धारणा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। परिवर्त्त की अवधारणा में अपने पुण्यों को दूसरों को देने तथा दूसरों के पापों को स्वंय ले लेने का अद्वितीय विचार अन्तनिर्हित है, जो बौद्ध दर्शन के प्रति विशेष आकर्षण का कारण बना है। वास्तविकता यह है कि 'बोधिसत्व' को लोक कल्याण में सन्नद्ध रहने की प्रेरणा गौतम बुद्ध के आचरण से ही प्राप्त होती है। गौतम बुद्ध स्वयं 'संबोधि' प्राप्त करने के पश्चात् मानव मात्र को दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए जीवन पर्यन्त उपदेश देते रहे और परिभ्रमण करते रहे। बुद्ध ने स्पष्ट कहा था कि– ''हे भिक्षुओं! अब तुम बहुतों के लाभ के लिए मनुष्य जाति के कल्याण के लिए हृदय में संसार के प्रति करुणा का भाव लेकर जाओ''

महायान शाखा में 'बोधिसत्व' के विकास की दस भूमियों का उल्लेख मिलता है। ये भूमियाँ हैं– प्रमुदिता, विमला, सुदुर्जया, प्रभाकारी, अर्जिष्मती, अभिमुखी, दूरगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। बोधिसत्व के विकास में पहली भूमि प्रमुदिता है, जो बोधि के विचार से पहचानी जा सकती है। इसमें बोधिसत्व उन सारगर्भित संकल्पों को करता है जो आगामी मार्ग का निर्धारण करते हैं। जैसे अवलोकितेश्वर का यह संकल्प है कि वह तब तक निर्वाण स्वीकार नहीं करेगा, जब तक उसके समक्ष धूल का अन्तिम कण भी बुद्धत्व नहीं प्राप्त कर लेगा। दूसरी भूमि विमला है। अन्तर्दृष्टि के विकास के बाद हृदय पवित्र होता है और मन अहं की भ्रान्ति से मुक्त होता है। इससे आचरण शुद्ध होता है और बुद्धि पूर्वक कार्य संभव होता है। तीसरी भूमि प्रभाकारी है। इस अवस्था में जिज्ञासु में घृणा, भ्रान्ति एवं क्रोध नष्ट होता है तथा श्रद्धा, करुणा, दान एवं अनासक्ति के भावों का समन्वयन होता है। इससे जिज्ञासु का मुख मंडल धैर्य एवं सहिष्णुता आदि गुणों के कारण लगता है। चौथी भूमि अर्चिश्मती या प्रकाशमयी है, इसमें बोधिसत्व अहंकार के समस्त अवशेषों को छोड़ दने के योग्य बनने के लिए अपने आप को कल्याणकारी

कार्यो में प्रशिक्षित करता है। वह बोधि से सम्बन्ध रखने वाले गुणों को अपने अन्दर धारण करने और बढ़ाने में अपने चित्त को लगाता है। पाँचवी भूमि सुदुर्जया है। इसमें जिज्ञासु स्वाध्याय एवं समाधि के मार्ग पर अग्रसर होता है, जिससे वह चार आर्य सत्यों को यथार्थ रुप में ग्रहण कर सके। इसमें ध्यान एवं समाधि का आधिपत्य रहता है। बोधिसत्व के विकास की छठी भूमि अधिमुखी है। इसमें जिज्ञासु नैतिक आचरण एवं ध्यान के फलस्वरुप पराधीन उत्पत्ति एवं असारता की ओर अभिमुखी होता है। यहाँ प्रज्ञा का शासन है, यद्यपि जिज्ञासु अब भी पूर्णरुपेण राग से विमुक्त नही होता, क्योंकि वह अब भी बुद्ध बनने की आकांक्षा रखता है, और मानव जाति को दुःखों से छुड़ाने का संकल्प भी रखता है। सातवीं भूमि दूरंगमा है। वह अपने को इसमे उस ज्ञान की प्राप्ति में लगाता है, जो उसे मानव मात्र की दुःख निवृत्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य बनाता है। आठवीं भूमि अचला है। इसमें वह विशिष्ट वस्तु के प्रति उत्सुक इच्छा से मुक्त होता है। उसके विचार विशिष्ट पदार्थों में नहीं बंधते और वह अचल हो जाता है। इसमें पदार्थ को उनके यथार्थ रुप में देखने का आधिपत्य होता है। नवीं भूमि साधुमती कहलाती है। इसमें बोधिसत्व के कर्म में स्वार्थभाव या द्वैतभाव का प्रभाव नहीं होता है। वह शान्तिपूर्ण विश्राम से सन्तुष्ट न रहकर दूसरों को धर्म का उपदेश करने लगता है। यह साधु पुरुषों की भूमि है। इसमें उसके सभी कर्म बिना किसी आकांक्षा एवं अपेक्षा के होते हैं। दसवीं भूमि धर्ममेधा है। इसमें बोधिसत्व तथागत बन जाता है।

बौद्ध दर्शन की महायान शाखा में बोधिसत्व की अवधारणा की स्वीकृति ने इसे विश्व धर्म या मानव धर्म बना दिया। बोधसत्व की अवधारणा बोधि प्राप्त पुरुष को जगत् के आध्यात्मिक कल्याण के लिए प्राणिमात्र के दुःख निवृत्ति के लिए सतत प्रयास करते रहने के लिए उत्साहित और प्रेरित करती है। इस प्रकार बोधिसत्व की अवधारणा में निर्वाण जीवन का लक्ष्य तो बना रहता है किन्तु यह अब स्वयं साध्य न होकर दूसरो के निर्वाण के लिए प्रयत्न करने की योग्यता बन जाता है।

5.7 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अभावात्मक एवं भावात्मक पक्ष

समकालीन बौद्ध दर्शन के अध्येताओं ने निर्वाण को दो रुपों में ग्रहण किया है– अभावात्मक एवं भावात्मक। श्वेखात्स्की, ओल्डेनवर्ग, दा्हल आदि बौद्ध दार्षनिक निर्वाण को एक अभावात्मक अवस्था के रुप में स्वीकार करते हैं। इन विचारकों का यह कहना है कि बुद्ध निर्वाण को निरोध मात्र, अभाव मात्र मानते थे। चूँकि वे अनात्मवाद को मानते थे, इसलिए वे आत्मा जैसी किसी नित्य एवं स्थायी सत्ता को अस्वीकार करते थे। परन्तु निर्वाण को अभावात्मक रुप में स्वीकार करते हुए भी ये दार्षनिक निर्वाण को निःश्रेयस् परम कल्याण एवं अमृतपद के रुप में विवेचित किया है। अतएव निर्वाण उस प्रकार कि अभावात्मक अवस्था नहीं है जहाँ नितान्त अभाव ही हो, अपितु यह चित्त वृत्ति का निरोध या अभाव और भाव निरोध है।

समकालीन दार्शनिकों का एक वर्ग ऐसा है जो, निर्वाण को भावात्मक रुप में स्वीकार करता है। इस वर्ग के दार्शनिकों में डॉ0 राधा कृष्णन, डॉ0 पुंसे, मैक्समूलर चिल्डर्स और श्रीमती रीज डेविड्स प्रमुख रुप से

उल्लेखनीय है। डॉ0 पुंसे निर्वाण को सुख, अमरत्व आदि मानते हैं। मैक्समूलर एवं चिल्डर्स ने बौद्ध दर्शन के निर्वाण विषयक स्थलों का व्यवस्थित अध्ययन करने के पश्चात् यह पाया कि– ''बौद्ध दर्शन में एक भी स्थल ऐसा नहीं पाया जाता है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि निर्वाण अभावात्मक अवस्था है। डॉ0 राधाकृष्णन एवं रीज डेविड्स ने भी निर्वाण को परमशक्ति एवं आनन्द के रुप में स्वीकार करते हुए इसे भावात्मक अवस्था के रुप में मान्यता प्रदान की है।

5.8 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शनष निर्वाण न तो जीवन के कर्मो से विरत रहने की अवस्था में न ही निष्क्रिय बनने की अवस्था है; अपितु अखण्ड समाधि द्वारा स्थायी रुप से प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर जीवन पर्यन्त प्राणिमात्र को निर्वाण प्राप्त करा करके सभी प्राणियों को दुःख से त्राण दिलाना है। बौद्ध दर्शन का यह आदर्ष महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्व की अवधारणा के रुप में संसार के सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्ति प्राप्त कराने के लिए आश्वासन प्रदान करता है। यही कारण है कि आज भी बौद्ध दर्शन विश्व के विभिन्न भागों में आकर्षण का केन्द्र बना है।

5.9 सारांश

बुद्ध ने तृतीय आर्य सत्य में दुःख–निरोध या निर्वाण का विवेचन किया है। द्वितीय आर्य सत्य में महात्मा बुद्ध ने अविद्या को सम्पूर्ण दुःख का मूलकारण बताया था और तृतीय आर्य सत्य में दुःखों के मूल कारण अविद्या के निरोध के द्वारा दुःखों के निरोध की बात किया है। दुःखों के निरोध को बौद्ध दर्शन में निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का अर्थ है– बुझ जाना या ठण्डा हो जाना। कुछ विचारकों ने 'बुझ जाने' या 'ठण्डा पड़ जाने' का अर्थ जीवन के अन्त या मृत्यु से किया है; जिसमें पंचस्कन्धों के बने रहने की अविच्छिन प्रक्रिया का भी अन्त हो जाता है। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो महात्मा बुद्ध अपने जीवन काल में ही निर्वाण प्राप्ति का दावा नहीं करते। अतएव निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त या मृत्यु नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः बुझ जाने या ठण्डा पड़ जाने का अर्थ दुःखों के ठण्डा पड़ने या दुःखों के बुझने से है। गौतम बुद्ध को निर्वाण का यही अर्थ संभवतः अभिप्रेत था। दीपक के बुझने से दुःखों के विलोप हो जाने का संकेत है और ठण्डा हो जाने से दुःखो के शान्त हो जाने का अर्थ प्राप्त होता है। अतएव निर्वाण में दुःखों का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण के दो भेद प्राप्त होते हैं– उपाधिशेष निर्वाण एवं निरुपाधिशेष निर्वाण। उपाधिशेष निर्वाण पूर्णता प्राप्त सन्त पुरुष को उपलक्षित करता है; जिसमें सन्त पुरुष का चित्त तृष्णा आदि सभी प्रकार के दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। निरुपाधिषेष निर्वाण सन्त पुरुष के मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होता है और इसमें उसके समस्त अस्तित्व का ही लोप हो जाता है– उपाधिशेष एवं निरुपाधिशेष निर्वाण को जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के रुप में भी जाना जा सकता है।

निर्वाण जीवन के अन्त की अवस्था नहीं है। यह पूर्ण ज्ञान एवं परम शान्ति की अवस्था है। निर्वाण के स्वरुप को लेकर बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय भिन्न–भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। हीनयान में निर्वाण 'अर्हत्' पद है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करना है। महायान के अनुसार निर्वाण का हीनयानी आदर्ष अत्यन्त स्वार्थपरक एवं तुच्छ है। इसलिए महायान सम्प्रदाय निर्वाण का आदर्श बोधिसत्व माना है। बोधिसत्व स्वयं अपने निर्वाण से सन्तुष्ट नहीं होता; अपितु वह प्राणिमात्र के दुःख निरोध से सन्तुष्ट होता है।

सर्वास्तिवादी वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में निर्वाण को अविद्या, तृष्णा, उपादान एवं तज्जन्य क्लेशों के अभाव की अवस्था माना जाता है। सर्वास्तिवादी में निर्वाण को अच्युत, अभय, परम सुख, शान्त अमृत, संस्कृत, शिव आदि पदों से भी अभिहित किया गया है। वैभाषिक निर्वाण को निरुपण में कुछ अन्तर पाया जाता है। वैभाषिक निर्वाण द्रव्य सत् मानते हैं अर्थात निर्वाण में हेतु परम्परा के उच्छेद का अर्थ निर्वाण का प्रतिलाभ करना है; जब सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव रुप मानते हुए निर्वाण को हेतु फल परम्परा का उच्छेदमात्र स्वीकार करते हैं।

महायान शाखा के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद सम्प्रदायों में भी निर्वाण के स्वरुप को परस्पर मतभेद पाये जाते हैं। विज्ञानवाद निर्वाण को बोधिलाभ या तथताभाव की प्राप्ति माना जाता है। निर्वाण बोधि होने के कारण सत् है किन्तु वह द्रव्य सत् न होकर ज्ञान सत् है। निर्वाण में जो अभाव है; वह द्रव्य का अभाव न होकर अविद्या का अभाव है। अतएव भाव एवं अभाव दोनों विज्ञान सत् है और इन दोनों का समन्वय बोधि की अवस्था में होता है जो समाधि की निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था है।

महायान शाखा के शून्यवाद सम्प्रदाय में निर्वाण को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त, सर्वदृष्टि प्रहाण, निरवशेष कलपनाक्षय, प्रंपच्चोपशम एवं शिव के रुप में विवेचित किया गया है। तात्विक दृष्टि से संसार एवं निर्वाणय अभिन्न हैं। क्योंकि निर्वाण प्रपंच्चशून्य है और संसार तत्वशून्य है।

आधुनिक विचारकों में भी निर्वाण के स्वरुप को लेकर दो वर्ग मिलते हैं। एक वर्ग निर्वाण को अभावात्मक अवस्था मानता है। इस वर्ग का यह मानना है कि निर्वाण चित्त निरोध एवं भाव निरोध है। यह परम निःश्रेयस्, परम कल्याण और अमृतपद है। श्चेरवात्स्की, ओल्डेनवर्ग, दाहल, डॉ0 कीथ एवं डॉ0 दास गुप्त इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं; जिन्होंने निर्वाण को परमसुख, परमशान्ति एवं अभयपद के रुप में वर्णन करते हुए इसे भावात्मक अवस्था के रुप में चित्रित किया है।

5.10 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन के निर्वाण के सम्प्रत्यय का विवेचन कीजिए?
2. बौद्ध दर्शन के बोधिसत्व की अवधारणा की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए?

5.11 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

उ० प्र० राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAPH-112 (N)
बौद्ध दर्शन

खण्ड–2 हीनयान दर्शन

इकाई–6 हीनयान और महायान 55

इकाई–7 हीनयान दर्शन में निर्वाण 66

इकाई–8 वैभाषिक सौतान्त्रिक मतभेद 73

खंड 02 – हीनयान दर्शन

खंड परिचयः

हीनयान दर्शन बौद्ध धर्म की प्राचीनतम शाखा है, जिसे 'थेरवाद' के नाम से भी जाना जाता है। यह बुद्ध की मूल शिक्षाओं का सबसे शुद्ध रूप माना जाता है। हीनयान शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'छोटा यान' या 'छोटा मार्ग'। यह नाम महायान के अनुयायियों द्वारा दिया गया था, हालांकि इस संप्रदाय के अनुयायी स्वयं को थेरवादी कहना पसंद करते हैं। हीनयान दर्शन का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है। इस दर्शन के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्धार के लिए स्वयं प्रयास करना चाहिए। यह मार्ग कठोर अनुशासन और कड़ी साधना पर बल देता है। हीनयान में बुद्ध को एक महान शिक्षक के रूप में देखा जाता है, न कि देवता के रूप में। वे मानते हैं कि बुद्ध ने मोक्ष का मार्ग दिखाया है, लेकिन इस मार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही होगा।

हीनयान दर्शन में अर्हत् की अवधारणा केंद्रीय महत्व रखती है। अर्हत् वह व्यक्ति है जो सभी क्लेशों से मुक्त हो गया है और जिसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है। हीनयान के अनुसार, अर्हत् पद की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इस मार्ग में बोधिसत्व की अवधारणा को महत्व नहीं दिया जाता, जो महायान का एक प्रमुख सिद्धांत है। हीनयान दर्शन में त्रिपिटक को सर्वोच्च प्रमाण माना जाता है। त्रिपिटक में विनय पिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक शामिल हैं। विनय पिटक में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए आचार संहिता है, सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश हैं, और अभिधम्म पिटक में दार्शनिक विवेचन है। हीनयान परंपरा पालि भाषा में लिखे गए इन ग्रंथों को ही प्रामाणिक मानती है।

हीनयान दर्शन में अनात्मवाद का सिद्धांत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सिद्धांत के अनुसार, कोई स्थायी आत्मा नहीं है, व्यक्ति पंचस्कंधों का क्षणिक संघात मात्र है। ये पंचस्कंध हैं – रूप (भौतिक शरीर), वेदना (अनुभूतियां), संज्ञा (प्रत्यक्षीकरण), संस्कार (मानसिक संस्कार) और विज्ञान (चेतना)। इन सभी स्कंधों का स्वभाव अनित्य है। क्षणिकवाद हीनयान दर्शन का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसके अनुसार, सभी वस्तुएं क्षणभंगुर हैं। प्रत्येक क्षण में नया धर्म उत्पन्न होता है और पुराना नष्ट होता है। यह सिद्धांत अनित्यता के बौद्ध सिद्धांत का दार्शनिक विकास है। हीनयान में प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत को विशेष महत्व दिया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार, सभी घटनाएं कारण–कार्य श्रृंखला में बंधी हुई हैं। कोई भी घटना स्वतंत्र रूप से नहीं घटती। अविद्या से लेकर जरा–मरण तक की बारह कड़ियों की श्रृंखला को समझना मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक माना गया है।

हीनयान दर्शन में धर्म की अवधारणा भी महत्वपूर्ण है। धर्म यहां पदार्थों के मूल तत्वों या गुणों को कहा गया है। ये धर्म स्वतंत्र सत्ता रखते हैं और इनकी संख्या सीमित है। हीनयान के अनुसार, समस्त जगत् इन्हीं धर्मों के विभिन्न संयोगों से बना है। हीनयान में निर्वाण को परम सत्य माना गया है। निर्वाण का अर्थ है समस्त वासनाओं का शमन। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें राग, द्वेष और मोह पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। निर्वाण की प्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। हीनयान परंपरा में भिक्षु जीवन को सर्वोत्तम माना गया

है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए निर्वाण प्राप्त करना लगभग असंभव माना जाता है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को संन्यास लेना आवश्यक है। भिक्षु को 227 नियमों का पालन करना होता है जो विनय पिटक में वर्णित हैं।

हीनयान में ध्यान साधना को विशेष महत्व दिया गया है। समथ और विपश्यना – ये दो प्रकार की ध्यान पद्धतियां हैं। समथ का अर्थ है चित्त की एकाग्रता और विपश्यना का अर्थ है यथार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन। दोनों प्रकार की साधनाएं निर्वाण प्राप्ति के लिए आवश्यक मानी गई हैं। हीनयान दर्शन में पंचशील का पालन आवश्यक माना गया है। ये पांच शील हैं – प्राणिहिंसा से विरति, चोरी से विरति, काममिथ्याचार से विरति, झूठ से विरति और मादक पदार्थों के सेवन से विरति। इन शीलों का पालन नैतिक जीवन का आधार है। हीनयान परंपरा में बुद्ध की मूर्तिपूजा को महत्व नहीं दिया गया है। स्तूप और चैत्य बुद्ध के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के प्रतीक मात्र हैं। बुद्ध को मानवीय गुरु के रूप में ही देखा जाता है, देवता के रूप में नहीं।

आज हीनयान बौद्ध धर्म मुख्य रूप से श्रीलंका, थाईलैंड, म्यांमार, कंबोडिया और लाओस में प्रचलित है। इन देशों में थेरवाद परंपरा का पालन किया जाता है। यह परंपरा बुद्ध की मूल शिक्षाओं को सुरक्षित रखने का प्रयास करती है। हीनयान दर्शन की विशेषता यह है कि यह व्यक्तिगत मोक्ष पर बल देता है और कड़े अनुशासन का पालन करता है। यह दर्शन आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना प्राचीन काल में था। वर्तमान समय में जब मनुष्य भौतिक सुखों के पीछे भाग रहा है, हीनयान दर्शन उसे आत्म–साधना का मार्ग दिखाता है। यह दर्शन सिखाता है कि वास्तविक सुख बाहर नहीं, भीतर है और इसे पाने के लिए कठोर साधना आवश्यक है। हीनयान दर्शन की यह विशेषता है कि यह सरल और स्पष्ट है। इसमें जटिल दार्शनिक विवेचन के स्थान पर व्यावहारिक साधना पर बल दिया गया है। यह दर्शन आज भी लाखों लोगों को जीवन जीने की प्रेरणा दे रहा है और उन्हें दुःख से मुक्ति का मार्ग दिखा रहा है।

प्रस्तुत खंड में हीनयान दर्शन पर गहनता से विचार–विमर्श हेतु इसे तीन इकाईयों में विभाजित किया गया है–

इकाई 6 में हीनयान और महायान पर चिंतन किया गया है।

इकाई 7 में हीनयान दर्शन में निर्वाण पर चिंतन किया गया है।

इकाई 8 में वैभाषिक सौत्रान्तिक मतभेद पर चिंतन किया गया है।

इकाई– 6 – हीनयान और महायान

इकाई की रुपरेखा–

6.1. प्रस्तावना

6.2. उद्देश्य

6.3. वैभाषिक सम्प्रदाय का परिचय एवं साहित्य

6.4. सौत्रान्तिक

6.5. योगाचार

6.6. शून्यवाद

6.7. बोध प्रश्न

6.8. उपयोगी पुस्तकें।

6.1. प्रस्तावना

ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में भारतवर्ष में दो महान् धार्मिक क्रान्तियाँ हुयीं जिन्होंने भारतीय दर्शन को काफी दूर तक प्रभावित किया और आज तक कर रही है। इनमें से एक क्रान्ति का प्रतिनिधित्व महावीर स्वामी ने किया तो दूसरी का प्रतिनिधित्व गौतम बुद्ध ने किया । जैन दर्शन एवं बौद्ध दर्शन के रूप में ये दोनों, क्रान्तियाँ पूर्ववर्ती ब्राह्मण धर्म के उच्च विज्ञानवाद, पौरोहित्य, यज्ञों में पशुबलि, अस्पृश्यता आदि के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया के रूप में दर्शन – क्षितिज पर आयी।

सिद्धार्थ गौतम का जन्म 563 ई0पू० में, शाक्य गणाधिप शुद्धोधन की भार्या महामाया देवी के गर्भ से कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी नामक ग्राम में हुआ। जन्म के सात दिनों के पश्चात उनकी माता का देहावसान हो गया और उनका पालन–पोषण उनकी मौसी महाप्रज्ञापति गौतमी ने किया, जो उनकी विमाता भी थी। उनका विवाह अत्यन्त रूपगुणशीलवती राजकुमारी यशोधरा से हुआ जिससे उन्हें राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वृद्ध, रोगी, मृतक एवं संन्यासी में चार दृश्य देखकर उन्हें वैराग्य की तीव्रता का अनुभव हुआ। इन दृश्यों के माध्यम से उन्होंने जगत् के नश्वरता का अनुभव किया, अतः जगत् में व्याप्त दुःखों से मनुष्य जाति को मुक्त करने लिए उन्होंने 29 वर्ष की अवस्था में राजमहल के वैभव, पुत्र एवं पत्नी का परित्याग कर दिया। एवं कौशये वस्त्र धारण कर लिया।

इसके पश्चात् वे प्रख्यात सांख्य आचार्य आलार कालाम से मिले तथा अपनी जिज्ञासा बताई। आलार ने उन्हें संक्षेप में तत्वविषयक शिक्षा दी परन्तु इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। इसके पश्चात वे एक अन्य सांख्याचार्य उद्रक रामपुत्र से मिले, परन्तु यहाँ भी उन्हें संतुष्टि नहीं मिल सकी। यहाँ से वे उरुवेला गए, जहाँ निरंजना नदी के समीप कई वर्षों तक स्वयं ही सत्य का साक्षात्कार करने का प्रयास किया और कई वर्षों तक कठोर तपस्या की

कठोर तपस्या के कारण उनका शरीर केवल अस्थिपंजर के रूप में ही रह गया। इस कठोर तपश्चर्या के पश्चात भी उन्हें सत्य के दर्शन न हुए तो उन्होंने उस स्थान का परित्याग कर दिया।

वहीं से बोधगया पहुँचकर उन्होंने एक पीपल के वृक्ष के नीचे तपस्या प्रारम्भ किया। रात्रि के प्रथम याम में उनका दिव्य चक्षु विशुद्ध हुआ, अन्तिम याम में द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार हुआ और अरुणोदय में उनको सर्वज्ञता का अनुभव हुआ। यही उनका बुद्धत्व है। इसके पश्चात् वे बुद्ध या संबुद्ध कहलाने लगे। बुद्धत्व – प्राप्ति के उपरान्त वे सर्वप्रथम ऋषिपत्तन मृगदान (सारनाथ) गए एवं जिन भिक्षुओं ने उरुवेला में उनका साथ छोड़ दिया था, उन्हीं पाँच भिक्षुओं को अपने साक्षात्कृत सत्य का सर्वप्रथम उपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहा जाता है। यहीं से बौद्ध धर्म का प्रारम्भ हुआ। इसके उपरान्त भगवान् बुद्ध पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में भ्रमण करते रहे एवं उपदेश देते रहे। अन्त में, मल्ल गणराज्य की राजधानी कुशीनगर में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् बुद्ध ने मौखिक उपदेश दिया जिसे उनके शिष्यों ने व्यवस्थित रुप दिया जिसे 'पालि – त्रिपिटक के नाम से जाना जाता है। बुद्ध के उपदेशों का जो कुछ भी हमें ज्ञान होता है। उनका आधार ये त्रिपिटक (तीन पिटारियाँ) ही हैं।' पालि' तत्कालीन लोकभाषा थी जिसे सर्वग्राह्यता के कारण बुद्ध ने अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। बुद्ध के उपदेशों की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उसकी 'सार्वभौमिकता' है जिसके कारण बौद्ध–धर्म का प्रचार भारत के बहर दक्षिण–पूर्व एशिया एवं चीन, जापान, बर्मा (म्यांमार) आदि स्थानों पर हुआ जिसके कारण बौद्ध धर्म विश्व–धर्म कहलाया। भगवान् बुद्ध के उपदेश किसी व्यक्ति विशेष, जाति – विशेष के लिए नहीं था वरन् समस्त मानव – जगत् के लिए था। उन्होंने कहा कि जन्म से कोई मनुष्य बड़ा या छोटा नहीं होता। उनका उपदेश है। जन्म से कोई वृषल नहीं होता, जन्म से कोई ब्रह्मण नहीं होता। कर्म से वृषल होता है, कर्म से ब्राह्मण होता है। हे ब्राह्मण ! इस इतिहास को जानो कि चाण्डाल – पुत्र मातंग ने परम यश प्राप्त किया। यहाँ तक कि अनके क्षत्रिय एवं ब्राह्मण भी उनके स्थान पर जाते थे। अन्त में वह भी उनके ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ। उसके ब्रह्मलोक की प्राप्ति में जाति बाधक नहीं हुई।''

छठी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर आज तक बौद्ध धर्म एवं दर्शन का बहुत विकास हुआ तथा साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध धर्म एवं दर्शन अत्यंत समृद्ध हुआ। डॉ रिज के अनुसार त्रिपिटक साहित्य का काल बुद्ध के निर्वाण के काल से अशोक के समय तक (5^{th} C.B.C. to 3^{rd} C.B.C.) था. जब उसने अपने अन्तिम स्वरूप को प्राप्त किया। ऐसा माना जाता है श्री लंका, म्यांमार में इन त्रिपिटकों का उतना ही महत्व है जितना भारतवर्ष में रामायण या महाभारत का। त्रिपिटकों के अन्तर्गत सुत्तपिटक, विनयपिटक एवं अभिधम्मपिटक की गणना की जाती है जिनका विवरण संक्षेप में निम्न है।

1) **सुत्तपिटक**– इस पिटक में गौतम बुद्ध के उपदेशों का गद्य–पद्य रूप में संकलन है। यह पिटक पाँच निकायों में विभक्त हैं– **(क)** दीघनिकाय – बौद्ध धर्म एवं दर्शन के स्वरूप के सन्दर्भ में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें बौद्ध–सिद्धान्तों आर्यसत्य, मध्यममार्ग, प्रतीत्यसमुत्यपाद् और निर्वाण की चर्चा अधिक है। कहीं–कहीं वर्णव्यवस्था,

तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व्यवस्था का भी चित्रण मिलता है। इन सूत्रों में बौद्ध नीति एवं शील, सदाचार आदि की चर्चा भी मिलती है।

(ख) मज्झिनिकाय– इन सुत्तों में ब्राह्मण, यज्ञ, होम, योग के विविध स्वरूप, जैनाचार्यों के साथ बुद्ध का संवाद, तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक स्थिति, बौद्ध धर्म के मूल चार आर्य सत्य, रूप, कर्म, पुनर्जन्म सिद्धान्त, आत्मवाद का खण्डन, ध्यान की अनेक विधियों का सम्यक् विवेचन मिलता है।

(ग) संयुक्त निकाय– ऐसे सुत्रों का संग्रह है, जिसमें दार्शनिक समस्याओं का वर्णन किया गया है।

(घ) अंगुत्तरनिकाय– इसमें अनेक धर्मों का विवेचन है। इसमें 23 सौ सुत्त है जो 11 वर्गों में बँटे हुए हैं। इन वर्गों को निपात कहते हैं जो संख्यात्मक श्रेणी से क्रमबद्ध है। सभी निपातों में एकरुपता है। इन निकायों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को संख्या के क्रम में निबद्ध किया गया है। उदाहरणार्थ, दुक निपात में दो व्याज्य वस्तुएँ दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, त्रिक निपात में तीन प्रकार के दुष्कर्म कृत– इस प्रकार का वर्णन है।

(ड.) खुद्दक निकाय– यह सुत्तपिटक का अन्तिम निकाय है जिसमे 15 ग्रन्थ संग्रहीत हैं।

2. विनयपिटक– यह बौद्ध भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियमों का संग्रह है। इसे भिक्षुओं का 'आचारशास्त्र' भी कहा जा सकता है। इस महाग्रंथ में भिक्षु–भिक्षुणियों के दैनिक कार्य कलापों से सम्बन्धित नियमों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें भगवान बुद्ध ने संघ की व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए दिया था। इन नियमों की विषय–वस्तु की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया गया है।

१. सुत्तविभंग २. खन्धक ३. परिवार

3. अभिधम्मपिटक 'अभिधम्म' का अर्थ है–विशिष्ट धर्म। यह मूल दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित है। इसकी विषय वस्तु सुत्तपिटक से मिलती जुलती है फिर भी अभिधम्मपिटक में दार्शनिक दृष्टि अधिक गहन है। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि अभिधम्मपिटक में जो मत व्यक्त किए गए हैं, वे गौतम बुद्ध के नहीं है, वरन् भिक्षुओं द्वारा की गई कल्पनाओं का संग्रह है जिन्हें उनके शिष्यों ने बुद्ध के मतों के रूप में प्रचारित किया । वस्तुतः तीनों पिटकों में सुत्तपिटक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जो बुद्ध की शिक्षाओं का मूलाधार है।

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् संघ में अनेक मतभेद उभरने प्रारम्भ हो गए। कथावस्तु के अनुसार बुद्ध के अवसान के पश्चात् द्वितीय बौद्ध संगीति में भिक्षुसंघ स्थविरवाद (थेरवाद) एवं महासांघिक में बँट गया। स्थविरवाद बुद्ध के नियमों में किसी प्रकार के परिवर्तन का विरोधी था जबकि महासांधिक दल प्रगतिशील दृष्टिकोण रखता था। वैशाली के द्वितीय संगीति के पश्चात् महासांधिकों ने स्थविरवाद को हीनयान (छोटी नौका) एवं स्वयं को महायान (विशाल नौका) कहना प्रारंभ किया। महायान का अर्थ है – निर्वाण प्राप्ति की प्रशस्त मार्ग जबकि हीनयान का अर्थ है निर्वाण प्राप्ति का तुच्छ मार्ग ।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन आरम्भिक तौर पर हीनयान एवं महायान में विभाजित हो गया जिसमें समानता के भी बिन्दु हैं परन्तु कुछ सिद्धान्तों में मतभेद भी हैं जिनका वर्णन यथास्थान आगे किया जाएगा।

तृतीय बौद्ध संगीत में सर्वास्तिवाद स्थविरवाद से अलग हो गया। कालान्तर में सर्वास्तिवाद से एक शाखा सौत्रान्तिक नाम से अलग हो गयी। महायान सम्प्रदाय में भी उपविभाजन हुए। अन्तिम रूप से हीनयान के तीन

प्रमुख सम्प्रदाय है 1. स्थविरवाद (थेरवाद) २. वैभाषिक (सर्वास्तिवाद) और 3. सौत्रान्तिक सम्प्रदाय (स्वतंत्र–विज्ञानवाद)

महायान के तीन उपविभाजन हुए जिससे तीन सम्प्रदाय बने–

१.) माध्यमिक (शून्यवाद)

२. योगाचार (विज्ञानवाद)

3. सौत्रान्तिक योगाचार (स्वतंत्र – विज्ञान वाद)

वैभाषिक दर्शन वस्तुवादी है एवं बाह्य एवं आभ्यंतर सभी सत्ताओं को अस्तित्ववान मानता है। बौद्ध दर्शन का विकास वैभाषिक दर्शन से शून्यवाद तक एक क्रमिक परम्परा के रूप में समझा जा सकता है। वैभाषिक दर्शन में बाह्य एवं आन्तरिक दोनों सत्ताओं को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार सौत्रान्तिक दर्शन भी बाह्य एवं आभ्यन्तर सत्ताओं को स्वीकार करता है, परन्तु वैभाषिक दर्शन बाह्य जगत् का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा मानना है जबकि सौत्रान्तिक दर्शन बाह्य जगत् का ज्ञान अनुमान द्वारा मानते है। विज्ञानवादी (योगाचार) सम्प्रदाय में बाह्य सत्ता का पूर्ण निराकरण प्राप्त होता है एवं चित्त की सन्तति को ही एकमात्र सत्ता मानते हैं। यही चित्त की सन्तति ही जीव एवं पदार्थ के रूप में आभासित होता है। इसके उपरान्त शून्यवाद में बाह्य एवं आभ्यंतर सभी सत्ताएँ अनिर्वचनीय शून्य में विलीन हो जाती हैं।

6.2. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ एवं उसके विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजन से पाठक को परिचित कराना है। हमने प्रस्तावना में देखा कि हीनयान मत में वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं जबकि महायान में योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद) प्रमुख सम्प्रदाय हैं। इसके अतिरिक्त महायान दर्शन में सौत्रान्तिक योगाचार (स्वतंत्र– विज्ञानवाद) के नाम से एक शाखा योगाचार से अलग हुई जिसके प्रणेता दिङ्नाग हैं।

शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैभाषिक एवं सौतान्त्रिक सम्प्रदाय को समेकित रूप से 'सर्वास्तिवाद' के रूप में उल्लिखित किया गया है। वस्तुतः सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा में विषयगत दृष्टि से एवं विषयीगत दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, केवल उनकी ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से किंचित अन्तर है। अतः अगले अवतरणों में सबसे पहले सर्वास्तिवादी तत्त्वमीमांसा का वर्णन किया जाएगा। तत्पश्चात् उनकी ज्ञानमीमांसी दृष्टि तथा उसके खण्डन – मण्डन को विवेचित – विश्लेषित किया जाएगा। इसके पश्चात योगाचार (विज्ञानवाद) एवं शून्यवाद (माध्यमिक) को स्वतंत्र रूप में उनके साहित्य एवं मतों को स्पष्ट किया जाएगा।

6.3 वैभाषिक सम्प्रदाय का परिचय एवं साहित्य

साहित्य एवं शंकराचार्य ने वैभाषिक सौत्रान्तिक सम्प्रदाय को मिलाकर सर्वास्तिवाद नाम दिया। सर्वम् अस्ति अर्थात चेतन जगत् एवं वस्तु– जगत् दोनों की पृथक–पृथक स्वतंत्र सत्ता है। इस प्रकार, वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दोनों सम्प्रदाय वस्तुवादी सम्प्रदाय है। वैभाषिक मत साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध त्रिपिटकों में 'अभिधम्मपिटक' – पर

आधारित है। अभिधम्मपिटक में बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संग्रह है। सर्वास्तिवादियों के अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत सात ग्रन्थों की गणना की जाती है जिसमें कात्यायनी पुत्र – रचित 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। अभिधर्मज्ञानप्रस्थान पर वसुमित्र ने महाविभाषा भा विभाषा नामक भाष्य लिखा। इस भाष्य की इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई कि इसके अनुयायिओं की 'वैभाषिक' कहा जाने लगा।' महाविभाषा' का संक्षिप्त सार वसुवन्धु कृ त 'अभिधर्मकोश' से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में संघभद्र की 'न्यायानुसारशास्त्र' एवं धर्मकीर्ति रचित 'न्यायबिन्दु प्रसिद्ध है।

6.4– सौतान्त्रिक

सौतान्त्रिक मत सुत्तपिटक पर आधारित है तथा विनयपिटक एवं 'अभिधम्म पिटक' को ये अस्वीकार करते हैं। इस मत का कोई भी स्वतंत्र ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। इस मत के जो कुछ सिद्धान्त आज ज्ञात है वे सब उन पूर्वपक्षों के आधार पर हैं, जिन्हें सर्वदर्शन संग्रह, सर्व सिद्धान्त संग्रह, षड्दर्शनसम्मुच्चय आदि ग्रंथों में सौतान्त्रिक मत कह कर उद्धृत किया गया है। कुमारलाट को इसका संस्थापक माना जाता है। यशोमित्र, धर्मत्रात, बुद्धदेव इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्य हैं।

यदि वैभाषिक और सौतान्त्रिक दर्शन की तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से दोनों सम्प्रदायों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । दोनों सम्प्रदाय बहुलवादी वस्तुवाद हैं। दोनो सम्प्रदायों की ज्ञानमीमांसा में किंचित अंतर है।

वैभाषिक दर्शन में प्रमा दो प्रमाणों से उत्पन्न होती है– प्रत्यक्ष एवं अनुमान। जो ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष है। बौद्ध दर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है अर्थात् प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो विशुद्ध प्रत्यक्ष होता है तथा उसमें नाम, जाति, गुण, कर्म, द्रव्य आदि कल्पनाओं से असंयुक्त है। दिंग्नाग ने प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी है।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नाम जात्याद्य संयुतम् । अभ्रान्त परोक्ष च प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ll

वैभाषिक दर्शन में प्रत्यक्ष के चार भेद माने गए हैं.

1. **इन्द्रिय ज्ञान**– यह इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न ज्ञान है जो बाह्य प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है।

2. **मनोविज्ञान**– मनुष्य को आभ्यंतर सत्ता का ज्ञान मनोविज्ञान द्वारा होता है। यह मानस प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होने के बाद मनोविज्ञान की स्थिति मानी गयी है।

3. **स्वसंवेदन चित्त एवं चौतसिक धर्मो (उदाहरणार्थ सुख, दुःख) का ज्ञान**– वैभाषिक दर्शन में स्वसंवेदन द्वारा उत्पन्न माना गया है। वैभाषिक, दर्शन के अनुसार चौतसिक धर्मो की यह वेदना साक्षात है। वैभाषिकों ने इसे भी प्रत्यक्ष का एक प्रकार माना है जिसको वे संवेदन कहते हैं।

4. **योगि प्रत्यक्ष**– योगियों को अन्तर्दृष्टि द्वारा जगत् का जो साक्षात्कार होता है, उसे योगि – प्रत्यक्ष कहते हैं।

परन्तु वैभाषिकों द्वारा जगत् की प्रत्यक्षानुभूति को सौत्रान्तिक दर्शन ने स्वीकार नहीं किया है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्य सत्ता को स्वीकार तो करते हैं परन्तु वे उसके ज्ञान को प्रत्यक्ष द्वारा न मानकर बाह्य सत्ता को अनुमान द्वारा

गम्य मानते हैं। सौत्रान्तिक– सम्प्रदाय यह मानता है कि बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष–ज्ञान मानने पर क्षणभंगवाद में दोष आता है क्योंकि क्षणभंगवाद की मान्यता है कि किसी वस्तु की एक क्षण से अधिक नहीं होती और यदि किसी बाह्य सत्ता की प्रत्यक्षानुभूति माना जाए तो उसे कम से कम दो क्षणों तक स्थिर रहना होगा। प्रथम क्षण में सत्ता का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होगा एवं द्वितीय क्षण में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। अतएव यदि क्षणभंगवाद का सिद्धान्त युक्तिसंगत है तो यह मानना पड़ेगा बाह्य सत्ता इन्द्रिय से सन्निकर्षोपरान्त नष्ट हो जाती है अतः सौत्रान्तिक दार्शनिकों ने यह माना कि बाह्य सत्ता के नष्ट होने पर चित्त में उसके आकार की उत्पत्ति होती है और उसको हेतुरूप मानकर बाह्य सत्रा का अनुमान किया जाता है सौत्रान्तिकों के इस मत को 'बाह्यानुमेयवाद' कहा जाता है जो वैभाषिक दर्शन के 'बाह्यप्रत्यक्षवाद का खण्डन करता है। पाश्चत्य दर्शन में सौत्रान्तिक दर्शन का यह मत जॉन लॉक के समान है।

परन्तु वैभाषिक दर्शन ने बाह्यप्रत्यक्षवाद की क्षणभंगवाद से संगति स्थापित करने के लिए 'स्वलक्षण' की कल्पना किया है। वैभाषिकों के अनुसार ज्ञान की प्रक्रिया में सर्वप्रथम किसी भी वस्तु की संवेदनामात्र होती है और तत्पश्चात् मानसिक क्रिया के कारण उसमें अन्य गुणों का आरोप किया जाता है। प्रथम क्षण में वस्तु की संवेदना को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं और जब यह संवेदना मानसिक क्रिया के कारण एक निश्चित आकार प्राप्त करके गुण–गुणी अवयव– अवयवी आदि रूपो में अभिव्यक्त होती है तब इसको सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। वैभाषिकों के मत के अनुसार मानसिक क्रिया से मिश्रित न होने के कारण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वास्तविक विशुद्ध प्रत्यक्ष है और यही बोध वस्तु की सत्ता वैभाषिक दर्शन में 'स्वलक्षण कहलती है। जब इस स्वललक्षण पर मानसिक क्रिया का आरोप होता है तो वह सामान्य लक्षण' कहलाती है। वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुरूप स्वलक्षण प्रत्यक्ष के विषय हैं एवं सामान्य लक्षण अनुमान के।

पुनः, वैभाषिक दर्शन के अनुसार ये स्वललक्षण क्षणिक हैं, साथ ही अनन्त हैं। इनके प्रवाह के कारण हमें किसी वस्तु कर प्रत्यक्ष ज्ञान होता हैं। वैभाषिक सम्प्रदाय द्वारा मान्य दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनुमान हेतु के द्वारा पक्ष में साध्य का ज्ञान है जो व्याप्ति के द्वारा उत्पन्न होती हैं। हेतु एवं साध्य नियतसाहचर्य नियम व्याप्ति कहलाता है। बौद्ध दर्शन में दो प्रकार की व्याप्ति मानी गयी है।

1. कार्यकारणरूपा
2. तादाम्यरूपा

कार्यकारणरूपा व्याप्ति वहाँ होती है जहाँ हेतु एवं साध्य के बीच कार्य–कारण सम्बन्ध हो। जैसे, पर्वत में धूम के ज्ञान से पर्वत में अग्नि का ज्ञान करना अनुमान है। यहाँ व्याप्ति कार्य कारण रुपा है। पुनः, शिंशुपा को देखकर यह अनुमान करना कि 'शिंशुपा एक वृक्ष है।' यहाँ तादात्म्य–व्याप्ति है क्योंकि शिंशुपा एवं वृक्ष में तादात्म्य है। वैभाषिक सम्प्रदाय में अनुमान के दो भेद माने गए हैं।जब हम अनुमानान्तर्गत लिंग को ध्यान में रखकर स्वतः अनुमान करते हैं तो यह स्वार्थानुमान होता है और जब इस अनुभूति को क्रमिक रूप में किसी अन्य व्यक्ति को किया जाता है तो परार्थानुमान कहलाता है। बौद्ध अनुमान में अनुमान के लिए हेतु में तीन गुण होने चाहिए।

3. पक्षधर्मता अर्थात् हेतु पक्ष में रहे।

2. सपक्षसत्व अर्थात् हेतु सपक्ष में रहे।

3. विपक्षासत्व अर्थात हेतु की विपक्ष में असत्ता हो।

इसे बौद्ध दर्शन में तैरुप्यवाद' या तिरुप लिंग कहा जाता है।

वैभाषिक दर्शन तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से विषयीगत एवं विषयगत दृष्टि से तत्वों की व्याख्या करता है। बौद्ध दर्शन में जगत् की परम सत्ता को 'धर्म' कहा गया है। विषयिगत एवं विषयगत दृष्टि से वैभाषिक सम्प्रदाय तत्त्वों की स्कन्ध, आयतन एवं धातु के रूप में निरूपित करता है। बौद्ध दर्शन में पंच स्कन्धों की मान्यता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान पंच स्कन्ध हैं। रूप–स्कन्ध भौतिक है एवं शेष चार मानसिक है। आयतन बारह हैं जिनमें छः इन्द्रियों एवं छः विषयों की सम्मिलित किया गया है। धातु–निरुपण में 18 धातु माना गया है जिसमें छः इन्द्रिय, छः उनके विषय एवं छः विज्ञान सम्मिलित है।

विषयगत दृष्टि से धर्मों को दो प्रकार का माना गया है।

1) संस्कृत धर्म

२) असंस्कृत धर्म। संस्कृत धर्म वे हैं जो कार्य–कारण परम्परा के द्वारा जगत् की रचना करते हैं। वैभाषिक सम्प्रदाय में संस्कृत धर्म तीन प्रकार के माने गए हैं–

1. रूप – रूप के अन्तर्गत सभी भूत एवं भौतिक पदार्थो गणना की जाती है जो इन्द्रियों का विषय होने में समर्थ हैं। वैभाषिक इनकी संख्या 11 मानता है।

2. चित्त– इसे चित्त, मन आदि भी कहते हैं। यह एक है।

3. चैतसिक धर्म – चित के समस्त व्यापारों को चैतसिक धर्म कहते हैं। इन संख्या 46 है।

4. चित्त विप्रयुक्त धर्म जो धर्म रूप एवं चित्त के अन्तर्गत नहीं आते उन्हें चित्त विषयुक्त धर्म कहते हैं। इनकी संख्या 14 है।

इस प्रकार रूप, चित्त, चैतसिक, एवं चित्तविप्रयुक्त आदि संस्कृत धर्मों को जोड़ दिया जाए तो यह संख्या 72 हो जाती है। इस प्रकार संस्कृत धर्मों की संख्या 72 हो जाती है।

असंस्कृत धर्म तीन हैं.

1) प्रतिसंख्यानिरोध– प्रज्ञा द्वारा क्लेशों का निरोध करना प्रतिसंख्या– निरोध कहलाता है। यह सर्वश्रेष्ठ धर्म है, यह निर्वाण–रूप है।

2) अप्रतिसंख्यानिरोध – प्रज्ञा के बिना क्लेश का निरोध करना अप्रतिसंख्यानिरोध कहा जाता है।

3) आकाश – आकाश भी असंस्कृत धर्म कहा जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में धर्मों की संख्या 75 है।

6.4 सौत्रान्तिक मत का परिचय एवं साहित्य

एक ही धार्मिक मत के दो सम्प्रदाय होने के कारण सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक सम्प्रदाय में काफी समानता दीखती है परस्तु कुछ ज्ञानमीमांसीम दृष्टि में अन्तर है। वै अधिक सम्प्रदाय बाह्य सत्त्रा की प्रत्यक्षानुभूति मान्का वाम प्रत्यक्षवार को स्वीकार करता है परन्तु सौत्रान्तिक दर्शन जगत् की प्रत्यक्ष द्वाए ज्ञेयता में क्षणभंगवाड में दोष आता है अतः

बाह्य सत्ता को अनुमेय सत्ता मानता है। पिछली इकाई सै हान्निक में इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

सौलान्तिकों ने ज्ञान के चार कारण माने हैं–

1) आलम्बन 2) समनन्तर 3) अधिपति 4) सहकारी । ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय का होना अनिवार्य है जो ज्ञान का आलम्बन है। आलम्बन– प्रत्यय के होते हुए भी उत्पन्न ज्ञान में अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान के बिना चेतना की संभावना नहीं हो सकती है अतएव यह पूर्ववर्ती ज्ञात भी ज्ञान की उत्पति का कारण है। इस कारण को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय समनन्तर–प्रत्यय कहता है। आलम्बन–प्रत्याय एवं समनन्तर– प्रत्यय के होते हुए • भी इन्द्रियों के अभाव में ज्ञान उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार ज्ञान की उत्पति में इन्द्रियों का कारणत्व स्वीकार करना उचित ही है। इन्द्रियों को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में अधिपति कारण कहा गया है। इनके अतिरिक्त वस्तु का आकार, आलोक आदि सहकारी कारणों की स्थिति भी ज्ञानोत्पति में आवश्यक है। इन कारणों को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय सहकारी कारण मानता है। इस प्रकार ये 'प्रत्यय– चतुष्ट्य' ज्ञान की उत्पत्ति में आवश्यक कारण है।

6.5 योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय का सामान्य परिचय एवं साहित्य

विज्ञानवाद बैद्ध दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सम्प्रदाय है जो बाह्य वस्तुओं की सत्ता का निराकरण कर विज्ञानमात्र या चित्तमात्र की ही सत्ता स्वीकार करता है। इनकी मान्यता है कि पुद्गल (जीव) एवं धर्म (वस्तु) दोनों की सत्ता परिकल्पित है तथा दोनों असत् हैं।

विज्ञानवाद को योगाचार सम्प्रदाय भी कहा जाता है क्योंकि बोधि – प्राप्ति के लिए योग – साधना पर अत्यधिक बल इस सम्प्रदाय में दिया गया है। प्रायः विज्ञानवाद को एक ही सम्प्रदाय माना जाता है परन्तु विज्ञानवाद का उत्तरकालीन रूप उसके पूर्व कालीन रूप से इतना भिन्न है कि उत्तरकालीन विज्ञानवाद को एक पृथक् मत ही मानना उचित है। इसीलिए पूर्वकालीन विज्ञानवाद को विज्ञानवाद एवं उत्तरकालीन विज्ञानवाद को स्वतंत्र विज्ञानवाद या सौतान्त्रिक योगाचार की संज्ञा दी गयी है। आचार्य मैत्रयनाथ को संस्थापक माना जाता है जिन्होंने मध्यान्त विभागाशास्त्र कारिका अभिसमयालंकार आदि ग्रन्थों में विज्ञानवाद की स्थापना की। इसके पश्चात उनके शिष्य असंग ने महायानसूत्रालंकार, महायान संग्रह, योगाचारभूमिशास्त्र आदि ग्रन्थों की रचना की। असंग के अनुज वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि एवं त्रिस्वभाव निर्देश में योगाचार सम्प्रदाय को अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचाया। इनकी प्रखर प्रतिभा के कारण ही इन्हें द्वितीय बुद्ध की संज्ञा दी गयी। विज्ञप्ति भावना सिद्धि दो भागों में विभक्त है विंशतिका एवं विंशिका। विंशतिका पर आचार्य वसुबन्धु ने स्ववृति लिखी है जिसे विज्ञप्तिमात्रताविंशत्रिका कहा जाता है। आचार्य स्थिरमति ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर टीका लिखी है।

आचार्य दिङ्नाग को स्वतंत्र विज्ञानवाद का प्रवर्तक माना जाता है। यह बौद्ध दर्शन का तार्किक सम्प्रदाय है। इनके ग्रन्थों में प्रमाण सम्मुच्चय, आलम्बन परीक्षा प्रसिद्ध हैं। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक, न्यायविन्दु तथा शान्तिरक्षित एवं कमलशील की तत्त्वसंग्रह प्रसिद्ध है।

आचार्य असंग ने अपने ग्रन्थ महायानसम्यरिमूह शास्त्र नामक ग्रंथ में योगाचार मत की दस निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी है।

1— विशुद्ध विज्ञान रूप धर्म धातु प्रत्येक धर्म में अन्तर्यामी है।

2. परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न, ये तीन स्वभाव है।

3. पुद्गल (जीव) और (धर्म (वस्तु) दोनों आलय विज्ञान के आभास हैं।

4. षट्पारमिताएँ दान, शील, क्षान्ति (कष्ट सहना), वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा, बोधि के लिए आवश्यक है।

5. बुद्ध बनने के लिए बोधिसत्व को दस भूमियाँ यार करनी पड़ती हैं।

6. पुद्गलनैरात्म्य द्वारा क्लेशावणरक्षय एवं धर्मनैरात्म्य द्वारा ज्ञेयाावरणक्षय से बोधि प्राप्ति होती है।

7. अविधा जन्य ग्राह्यग्राहकवासना के निरोध से अंद्वय विशुद्ध प्रज्ञा या बोधि की प्राप्ति होती है।

8. संसार (संक्लेश) एवं निर्वाण (व्यवदान) में कोई भेद नहीं है।

9. महायान हीनयान से श्रेष्ठ है।

10. बुद्ध के तीन काय – धर्मकाय, निर्माण काय, संभोगकाय हैं।

विज्ञानवाद में बाह्य सत्ताओं का खण्डन प्राप्त होता है। विज्ञानवादी तर्क देते हैं कि यदि कोई वस्तु है भी तो उसका ज्ञान असंभव है क्योंकि वह या तो परमाणु रूप है या परमाणु संघात। यदि वह परमाणु रूप है तो उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा। यदि वह परमाणुओं का संघात है तो भी हमें उसका पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं होगा। विज्ञानवादी सम्प्रदाय बाह्य जगत् को स्वप्न के समान, भ्रम मानते हैं तथा विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता मानते हैं। बर्कले के समान वे भी कहते हैं कि हमें संवेदनों का अनुभव होता है, बाह्य पदार्थ का नहीं। पुनः संवेदन तो मानस धर्म है अतः उनका कारण जड़ पदार्थ नहीं वरन् मानस ही होना चाहिए।

विज्ञानवाद सम्प्रदाय में विशुद्ध विज्ञान रूप शुद्ध चित्तमात्र को ही परम सत्ता मानते हैं यही परमार्थ है जिसे विज्ञानवाद में परिनिष्पन्न कहा गया है। यह परिनिष्पन्न सत्ता ही आलय विज्ञान के रूप में आभासित होती है। इस आलय विज्ञान के अन्तर्गत षड्विध प्रवृति विज्ञान एवं मनस है। इस प्रकार आलय सहित अष्टविध विज्ञान ही पुद् गल एवं धर्म का आकार लेकर आभारित होते हैं। आलय सहित अष्टविध विज्ञान की ही व्यावहारिक सत्ता है जिसे योगाचार सम्प्रदाय परतंत्र कहता है। पुद्गल एवं धर्म की कोई सत्ता नहीं है। ये असत् हैं जिन्हें परिकल्पित सत्ता कहा गया है।

6.6 शून्यवाद का सामान्य परिचय एवं साहित्य

शून्यवाद को माध्यमिक भी कहा गया है क्योंकि यह बुद्धि–कोटियों के पारगामी मध्यम मार्ग का पोषक है। शून्यवाद में आकर बौद्ध दर्शन अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है। शून्यवाद के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य नागार्जुन को है जिनकी माध्यमिककारिका, विग्रह– व्यावर्तिनी, प्रज्ञापारमिता सूत्र आदि शून्यवादी दर्शन की आधारशिला है। आर्यदेव की चतुः शतक, बोधिसत्त्व– योगाचार शास्त्र, चन्द्रकीर्ति का मध्यमकावतार, प्रसन्नपदा, शान्तिदेव का 'शिक्षा समुच्चय, माध्यमिकालंकार कारिका, इस सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

शून्यवाद ने विज्ञानवाद के चिन्तन को तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचाया। विज्ञानवाद बाह्य सत्ता का निराकरण करता है परन्तु आन्तरिक सत्ता के रूप में चित्त एवं चित्त सन्तति को स्वीकार करता है।

शून्यवाद कहता है कि विज्ञानवाद ने जिन युक्तियों के आधार पर बाह्य सत्ता का निषेध किया उन्हीं युक्तियों के आधार पर आत्मा, जिसे विज्ञानवाद आलय विज्ञान मानता है, का भी खण्डन किया जा सकता है। शून्यवाद का तर्क है यदि हम केवल संवेदनों को ही जानते हैं, उनसे आगे बढ़कर यदि हम बाह्य सत्ता तक नहीं पहुँच सकते तो इन संवेदनों के आधार पर आत्मचेतना तक कैसे पहुँच सकते हैं? यदि गुणों का अनुभव वस्तु का अस्तित्व नहीं सिद्ध करता तो विचार का अनुभव भी आत्मा के अस्तित्व को कैसे सिद्ध कर सकता है। अतः बाह्य जगत् को विज्ञान की प्रतीति मानने की भी आवश्यकता नहीं है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि शून्यवाद यह मानता है कि बुद्धि की कोटियाँ स्वाभाविक रूप से अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। अतः प्रत्येक दार्शनिक मत अन्तर्विरोध से युक्त है। बुद्धि कल्पना–प्रसूत प्रत्येक मत अपने ही अन्तर्विरोधों के कारण निराकृत है। इसे ही 'प्रसंगापादन' शैली कहा गया है।

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। इसे ही 'अजातिवाद कहा जाता है। इस सन्दर्भ में नागार्जुन ने 'अष्टनिषेध प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है।

न निरोध है 2. न उत्पति है 3. न अनित्य है. न नित्य है 5. न एक है है। 6. न अनेक है 7. न आना है 8. न जाना है।

नागार्जुन कहते हैं कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती – न स्वतः, न परतः, न द्वाभ्याम् और न अहेतुतः । इस प्रकार किसी भी वस्तु की उत्पति असंभव है।

शून्यवाद के सन्दर्भ में एक भ्रम यह बना हुआ है कि 'शून्यवाद' को विद्वान एक निषेधात्मक दर्शन मानते हैं। कुछ भाष्यकारों ने 'शून्य' का अर्थ 'अभाव' और 'अनस्तित्व किया है। परन्तु शून्य का वास्तविक अर्थ नहीं है वरन् 'शून्य' को 'दो रूपों में लिया गया है। यह व्यवहार भी है एवं परमार्थ भी। व्यवहार में शून्य का अर्थ स्वभाव – शून्य और परमार्थ में शून्य' का अर्थ प्रपञ्च शून्य है। 'स्वभाव' का तात्पर्य है जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता न हो एवं प्रपञ्च शून्य का अर्थ है वहाँ अविद्या, बुद्धि कोटियाँ, दृष्टियाँ, विकार, उपाधि आदि समस्त प्रपञ्च शान्त हो जाता है। अतः शून्य का तात्पर्य है कि इस संसार की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है वरन् वास्तविक सत्ता परमार्थ की है जहाँ समस्त प्रपञ्च शान्त हो जाते है।

इस संदर्भ में नागार्जुन ने दो सत्यों का सिद्धान्त दिया : 1.लोक संवृत्ति सत्य एवं 2. परमार्थ सत्य । लोक संवृति व्यवहार है तथा परमार्थ सत्य पारमार्थिक सत्ता है। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति को लोक संवृति एवं मिथ्या संवृत्ति में विभाजित किया। लोक संवृत्ति व्यवहार है एवं मिथ्या संवृति के अन्तर्गत भ्रम एवं स्वप्न आदि की सत्ता है जो वेदान्त के प्रतिभास के समान है।

6.7 बोध प्रश्न–

1. वैभाषिक मत का संक्षिप्त परिचय दीजिए

2. सौत्रान्तिक

3.विज्ञानवाद

4.शून्यवाद

6.8 उपयोगी पुस्तकें :

1.भारतीय दर्शन : डॉ. राधाकृष्ण

2.भारतीय दर्शन : डॉ. नन्दकिशोर देवराज

3.भारतीय दर्शन : आलोचना एवं अनुशीलन डॉ0 चन्द्रधर शर्मा

4.भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण : डॉ. संगम लाल पाण्डेय

इकाई – 7

हीनयान दर्शन में निर्वाण

इकाई की रूपरेखाः

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 निर्वाण की अवधारणा

7.3 निर्वाण का अर्थ

7.4 निर्वाण की उत्पत्ति

7.5 निर्वाण के मूल सिद्धांत

7.6 निष्कर्ष

7.7 सारांश

1.8 प्रश्न बोध

1.9 उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा सर्वाधिक महत्वपूर्ण और गहराई से चर्चित विषयों में से एक है। हीनयान दर्शन, बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाओं में से एक है, जिसमें निर्वाण की अवधारणा केंद्रीय भूमिका निभाती है। इस इकाई का मुख्य उद्देश्य हीनयान दर्शन में निर्वाण की अवधारणा का विस्तृत अध्ययन करना है। निर्वाण शब्द का शाब्दिक अर्थ है "निर्वाप" या "बुझना"। बौद्ध दर्शन में, निर्वाण को जीवन के दुःख और पीड़ा से मुक्ति या मोक्ष के रूप में समझा जाता है। यह न केवल व्यक्तिगत मुक्ति है, बल्कि सभी सेंटियंट प्राणियों के लिए भी मुक्ति है। हीनयान बौद्ध दर्शन में, निर्वाण को सर्वोच्च लक्ष्य और अंतिम गंतव्य के रूप में माना जाता है।

हीनयान शब्द का अर्थ है "छोटा या कम यान"। इसका तात्पर्य है कि हीनयान दर्शन में, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग व्यक्तिगत है और इसमें अन्य जीवों का उद्धार शामिल नहीं है। इस प्रकार, हीनयान दर्शन में निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य व्यक्तिगत मुक्ति और संसार से छुटकारा पाना है। हीनयान दर्शन में, निर्वाण प्राप्ति के लिए मुख्य आधार संज्ञानात्मक और आध्यात्मिक विकास है। इसमें ध्यान, प्रज्ञा और कर्म का समावेश होता है। ध्यान

व्यक्ति को आंतरिक शांति और समाधि प्रदान करता है, जबकि प्रज्ञा उसे वास्तविकता और सत्य की गहरी समझ प्रदान करती है। कर्म उसे सही कर्मों को करने और दुष्कर्मों से बचने में मदद करता है। इन तीनों का समन्वय व्यक्ति को निर्वाण की ओर ले जाता है।

हीनयान दर्शन में, निर्वाण की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत प्रयास और लगन महत्वपूर्ण होते हैं। यह मानव जीवन में धर्म, नैतिकता और अध्यात्म को एकीकृत करने का प्रयास है। हीनयान बौद्ध विचारकों का मानना है कि व्यक्ति को अपने आंतरिक शुद्धता और ज्ञान को विकसित करना चाहिए ताकि वह संसार के दुःख और पीड़ा से मुक्त हो सके। निर्वाण की प्राप्ति में, हीनयान दर्शन महात्मा बुद्ध के जीवन और उपदेशों पर बहुत अधिक ध्यान देता है। बुद्ध द्वारा प्रचारित चार आर्य सत्य और आठांगिक मार्ग हीनयान दर्शन के मूलभूत सिद्धांत हैं। इन सिद्धांतों का उद्देश्य व्यक्ति को दुःख और पीड़ा से मुक्त करना और उसे शांति और मुक्ति प्रदान करना है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए हीनयान दर्शन में व्यक्तिगत प्रयास और चिंतन पर बल दिया जाता है। यह मानता है कि मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने आंतरिक शुद्धता और ज्ञान को विकसित करना चाहिए। इसलिए, हीनयान दर्शन में साधक या भिक्षु की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि वे अपने आध्यात्मिक विकास पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

7.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन एक प्राचीन और समृद्ध परंपरा है, जिसका उद्‌गम महात्मा बुद्ध के जीवन और उपदेशों से हुआ है। बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाएं हैं – हीनयान और महायान। इन दोनों में से, हीनयान दर्शन एक ऐसी धारा है, जिसमें निर्वाण की अवधारणा केंद्रीय भूमिका निभाती है। निर्वाण शब्द का शाब्दिक अर्थ "निर्वाप" या "बुझना" है। बौद्ध दर्शन में, निर्वाण को जीवन के दुःख और पीड़ा से मुक्ति या मोक्ष के रूप में समझा जाता है। यह न केवल व्यक्तिगत मुक्ति है, बल्कि सभी सेंटियंट प्राणियों के लिए भी मुक्ति है। हीनयान बौद्ध दर्शन में, निर्वाण को सर्वोच्च लक्ष्य और अंतिम गंतव्य के रूप में माना जाता है।

हीनयान शब्द का अर्थ है "छोटा या कम यान"। इसका तात्पर्य है कि हीनयान दर्शन में, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग व्यक्तिगत है और इसमें अन्य जीवों का उद्धार शामिल नहीं है। इस प्रकार, हीनयान दर्शन में निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य व्यक्तिगत मुक्ति और संसार से छुटकारा पाना है। हीनयान दर्शन में, निर्वाण प्राप्ति के लिए मुख्य आधार संज्ञानात्मक और आध्यात्मिक विकास है। इसमें ध्यान, प्रज्ञा और कर्म का समावेश होता है। ध्यान व्यक्ति को आंतरिक शांति और समाधि प्रदान करता है, जबकि प्रज्ञा उसे वास्तविकता और सत्य की गहरी समझ प्रदान करती है। कर्म उसे सही कर्मों को करने और दुष्कर्मों से बचने में मदद करता है। इन तीनों का समन्वय व्यक्ति को निर्वाण की ओर ले जाता है। हीनयान दर्शन में, निर्वाण की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत प्रयास और लगन महत्वपूर्ण होते हैं। यह मानव जीवन में धर्म, नैतिकता और अध्यात्म को एकीकृत करने का प्रयास है। हीनयान बौद्ध विचारकों का मानना है कि व्यक्ति को अपने आंतरिक शुद्धता और ज्ञान को विकसित करना चाहिए ताकि वह

संसार के दुःख और पीड़ा से मुक्त हो सके। निर्वाण की प्राप्ति में, हीनयान दर्शन महात्मा बुद्ध के जीवन और उपदेशों पर बहुत अधिक ध्यान देता है। बुद्ध द्वारा प्रचारित चार आर्य सत्य और आठांगिक मार्ग हीनयान दर्शन के मूलभूत सिद्धांत हैं। इन सिद्धांतों का उद्देश्य व्यक्ति को दुःख और पीड़ा से मुक्त करना और उसे शांति और मुक्ति प्रदान करना है।

7.2 निर्वाण की अवधारणा

हीनयान दर्शन में निर्वाण को दुःख और संसार के चक्र से पूर्ण मुक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। यह बौद्ध धर्म की मूलभूत अवधारणा है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति को राग, द्वेष, और मोह जैसे मानसिक क्लेशों से मुक्त कर आत्मिक शांति और संतोष प्रदान करना है। निर्वाण शब्द का अर्थ है "बुझ जाना" या "शांत हो जाना," जो प्रतीकात्मक रूप से उन सभी मानसिक और आत्मिक अशांतियों के अंत का द्योतक है जो मनुष्य को संसार के चक्र में बांधती हैं। निर्वाण की अवधारणा बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्यों से निकटता से जुड़ी हुई है। पहला सत्य यह है कि जीवन स्वभावतः दुःखमय है (दुःख)। दूसरा सत्य यह पहचानना है कि यह दुःख तृष्णा या आसक्ति से उत्पन्न होता है। तीसरा सत्य यह है कि तृष्णा का अंत ही दुःख का अंत है, और यह अवस्था निर्वाण है। चौथा सत्य निर्वाण तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है, जिसे अष्टांगिक मार्ग के रूप में जाना जाता है।

हीनयान दर्शन में निर्वाण को व्यक्तिगत अनुभव और साधना का परिणाम माना गया है। यह कोई बाह्य अवस्था नहीं है, बल्कि व्यक्ति के भीतर की स्थिति है, जिसमें वह संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है। निर्वाण में व्यक्ति अपने भीतर से अनित्यता और आत्मा–नास्तित्व की सच्चाई को पूरी तरह स्वीकार कर लेता है। यह अवस्था मानसिक शांति और स्थायित्व की स्थिति है, जहाँ व्यक्ति संसार के मोह और पीड़ा से परे होता है। हीनयान में निर्वाण को व्यावहारिक रूप से प्राप्त करने के लिए ध्यान, नैतिक अनुशासन, और प्रज्ञा (ज्ञान) पर विशेष बल दिया गया है। ध्यान के माध्यम से मन को शांत कर, नैतिक अनुशासन के द्वारा क्लेशों को समाप्त कर, और प्रज्ञा के द्वारा सत्य को पहचान कर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार निर्वाण हीनयान दर्शन में दुःख से मुक्ति और शाश्वत शांति की उच्चतम अवस्था है।

7.3 निर्वाण का अर्थ

निर्वाण, बौद्ध दर्शन की केंद्रीय अवधारणा, का अर्थ है पूर्ण मुक्ति या समस्त बंधनों का अंत। "निर्वाण" शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु "नि" (निष्कासन) और "वाण" (हवा के बुझने) से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "बुझ जाना।" यह बुझना सांसारिक क्लेशों, तृष्णाओं और राग–द्वेष के अग्नि का शांत होना है। इस संदर्भ में निर्वाण को दुःख, मोह, और जन्म–मरण के चक्र से स्थायी रूप से मुक्त होने की अवस्था के रूप में परिभाषित किया गया है। हीनयान दर्शन में निर्वाण को एक शाश्वत और अतीन्द्रिय स्थिति के रूप में देखा जाता है। यह संसार के बंधनों से परे की अवस्था है, जहाँ मनुष्य सभी प्रकार की मानसिक अशांतियों और दुःखों से मुक्त होकर एक गहन शांतिपूर्ण

स्थिति में पहुँचता है। निर्वाण कोई बाह्य स्थान या स्वर्गीय स्थिति नहीं है, बल्कि यह मानसिक और आध्यात्मिक मुक्ति का प्रतीक है। इसे कर्म और तृष्णा के चक्र से बाहर निकलने की अवस्था माना गया है।

निर्वाण की अवधारणा अनात्मवाद और क्षणिकवाद के सिद्धांतों से गहराई से जुड़ी हुई है। हीनयान दर्शन में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा का कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है और प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। जब मनुष्य इस सत्य को पूरी तरह समझ लेता है और तृष्णा का त्याग कर देता है, तब वह निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। हीनयान दर्शन में निर्वाण को दो रूपों में समझा गया हैकृसोपाधि–शेष निर्वाण और अनूपाधि–शेष निर्वाण। सोपाधि–शेष निर्वाण उस अवस्था को दर्शाता है जब व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है, लेकिन उसका शरीर अभी भी विद्यमान रहता है। दूसरी ओर, अनूपाधि–शेष निर्वाण शरीर के अंत के बाद की वह अवस्था है, जब व्यक्ति पूरी तरह से संसार के चक्र से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार, निर्वाण का अर्थ है समस्त मानसिक अशांतियों का अंत और एक पूर्ण शांति की अवस्था की प्राप्ति। यह मनुष्य की आत्मिक मुक्ति और बौद्ध साधना का परम लक्ष्य है।

7.4 निर्वाण की उत्पत्ति

निर्वाण की अवधारणा का उद्भव बौद्ध धर्म की बुनियादी शिक्षाओं के साथ हुआ। यह सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के चिंतन और साधना का केंद्रीय तत्व था। निर्वाण का विचार बुद्ध के आत्मज्ञान (बोधि) के बाद उनके द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग में निहित है। बुद्ध ने अनुभव किया कि संसार स्वाभाविक रूप से दुःखमय है और इस दुःख का कारण तृष्णा है। उन्होंने यह भी सिखाया कि तृष्णा का अंत ही निर्वाण है, जो दुःख और जन्म–मरण के चक्र (संसार) से मुक्ति प्रदान करता है। निर्वाण की उत्पत्ति को बौद्ध दर्शन में अनित्य (अस्थिरता), दुःख (असंतोष), और अनात्म (अहंकार रहितता) के सिद्धांतों के साथ गहराई से जोड़ा गया है। इन तीन लक्षणों के माध्यम से बुद्ध ने यह समझाया कि संसार में सभी वस्तुएँ क्षणिक और अस्थिर हैं। जब व्यक्ति इस सत्य को गहराई से समझता है, तो वह तृष्णा और आसक्ति से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होता है।

निर्वाण की अवधारणा वैदिक धर्म और समकालीन दर्शनों से भी प्रभावित मानी जा सकती है, लेकिन इसका स्वरूप और महत्व बौद्ध दर्शन में विशिष्ट है। वैदिक परंपरा में मुक्ति (मोक्ष) को आत्मा के साथ जोड़ा गया है, जबकि बौद्ध धर्म निर्वाण को आत्मा–नास्तित्व और कर्म के चक्र से मुक्ति के रूप में देखता है। इस प्रकार, निर्वाण की उत्पत्ति बुद्ध के उस मौलिक दृष्टिकोण से होती है, जो आत्मा और स्थायित्व के विचारों को अस्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त, निर्वाण का विचार साधना और अनुभव की प्रक्रिया में निहित है। बुद्ध ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया, जिसमें शील (नैतिकता), समाधि (ध्यान), और प्रज्ञा (सत्य का ज्ञान) शामिल हैं। ये साधन निर्वाण की ओर ले जाने वाले व्यावहारिक और व्यवस्थित उपाय हैं। इस प्रकार, निर्वाण की उत्पत्ति बौद्ध धर्म के उन सिद्धांतों और शिक्षाओं से हुई है, जो तृष्णा के त्याग और आत्मिक शांति के

लिए मार्गदर्शन प्रदान करती हैं। यह अवधारणा बुद्ध की शिक्षाओं का सार है और जीवन के परम लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित है।

7.5 निर्वाण के मूल सिद्धांत

हीनयान दर्शन में निर्वाण की अवधारणा को समझने के लिए इसके मूल सिद्धांतों का विश्लेषण करना आवश्यक है। ये सिद्धांत न केवल निर्वाण की व्याख्या करते हैं, बल्कि उसे प्राप्त करने के मार्ग को भी स्पष्ट करते हैं। निर्वाण की व्याख्या चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, अनात्मवाद, और क्षणिकवाद जैसे बौद्ध सिद्धांतों से जुड़ी हुई है। पहला और सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत चार आर्य सत्य है। बुद्ध ने इसे निर्वाण की ओर पहला कदम बताया।

1. प्रथम सत्य, "दुःख," यह समझाता है कि जीवन स्वभावतः दुःखमय है।
2. दूसरा सत्य, "दुःख समुदय," बताता है कि इस दुःख का कारण तृष्णा है।
3. तीसरा सत्य, "दुःख निरोध," यह आश्वासन देता है कि तृष्णा के अंत के साथ दुःख का अंत संभव है।
4. चौथा सत्य, "दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा," निर्वाण तक पहुँचने का मार्ग, अष्टांगिक मार्ग को इंगित करता है।

अष्टांगिक मार्ग निर्वाण प्राप्ति का व्यावहारिक साधन है। इसमें सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक प्रयास, सम्यक स्मृति, और सम्यक समाधि शामिल हैं। इन आठ अंगों का पालन करके व्यक्ति अपने मन और जीवन को शुद्ध कर सकता है और निर्वाण की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

अनात्मवाद और क्षणिकवाद भी निर्वाण के मूल सिद्धांत हैं। बौद्ध दर्शन आत्मा के स्थायित्व के विचार को अस्वीकार करता है। यह मानता है कि संसार की हर वस्तु क्षणिक है और उसमें स्थायित्व का भ्रम तृष्णा को जन्म देता है। जब व्यक्ति इस सत्य को समझ लेता है, तो वह तृष्णा और आसक्ति से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

इसके अतिरिक्त, नैतिकता (शील), ध्यान (समाधि), और प्रज्ञा (ज्ञान) भी निर्वाण के सिद्धांतों के मूल स्तंभ हैं। नैतिक आचरण से मन की शुद्धता प्राप्त होती है, ध्यान से मन स्थिर होता है, और प्रज्ञा से सत्य का बोध होता है। इन सिद्धांतों के माध्यम से निर्वाण हीनयान दर्शन का अंतिम लक्ष्य है, जो व्यक्ति को दुःख और संसार के चक्र से मुक्ति प्रदान करता है।

7.6 निष्कर्ष

हीनयान दर्शन में निर्वाण को जीवन के अंतिम और सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में देखा गया है। यह वह अवस्था है, जहाँ व्यक्ति सभी प्रकार के दुःख, राग—द्वेष, मोह और संसार के बंधनों से मुक्त हो जाता है। निर्वाण केवल एक सैद्धांतिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह व्यावहारिक अनुभव और साधना का परिणाम है। यह आत्मिक मुक्ति की वह अवस्था है, जो चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग के पालन से प्राप्त होती है। निर्वाण को समझने

के लिए यह आवश्यक है कि हम इसे बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांतों, जैसे अनात्मवाद, क्षणिकवाद, और चार आर्य सत्यों के परिप्रेक्ष्य में देखें। हीनयान के अनुसार, तृष्णा और आसक्ति ही दुःख का मूल कारण हैं, और इन्हें समाप्त करके ही निर्वाण की प्राप्ति संभव है। यह शाश्वत शांति की वह अवस्था है, जहाँ मनुष्य अपने भीतर से सभी मानसिक अशांतियों और क्लेशों का अंत कर लेता है। निर्वाण को प्राप्त करने के लिए हीनयान दर्शन व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान करता है। अष्टांगिक मार्ग, जिसमें सम्यक दृष्टि, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, और सम्यक समाधि जैसे अंग शामिल हैं, व्यक्ति को नैतिक, मानसिक, और आध्यात्मिक स्तर पर तैयार करता है। इस मार्ग के माध्यम से व्यक्ति अपने भीतर ध्यान और प्रज्ञा के द्वारा सत्य का बोध करता है और तृष्णा का त्याग कर निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि निर्वाण हीनयान दर्शन का केंद्रीय तत्व है, जो इसे अन्य दर्शनों से अलग करता है। यह आत्मा के स्थायित्व को नकारते हुए एक ऐसी अवस्था का प्रस्ताव करता है, जहाँ व्यक्ति न केवल अपने व्यक्तिगत दुःखों से, बल्कि पुनर्जन्म और संसार के चक्र से भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार, निर्वाण का अर्थ केवल बौद्ध साधना की अंतिम अवस्था नहीं है, बल्कि यह जीवन और अस्तित्व की प्रकृति को समझने का दार्शनिक दृष्टिकोण भी है। यह व्यक्ति को आत्मिक मुक्ति और शाश्वत शांति की ओर ले जाता है, जो हीनयान दर्शन की प्रमुख उपलब्धि है।

7.7 सारांश

हीनयान दर्शन में निर्वाण को मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य और बौद्ध साधना का अंतिम उद्देश्य माना गया है। यह वह अवस्था है, जहाँ व्यक्ति सभी प्रकार के दुःखों, मानसिक अशांतियों, राग–द्वेष, और मोह से मुक्त होकर पूर्ण शांति और संतोष प्राप्त करता है। निर्वाण की अवधारणा चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, अनात्मवाद, और क्षणिकवाद जैसे बौद्ध सिद्धांतों पर आधारित है, जो इसे न केवल दार्शनिक रूप से, बल्कि व्यावहारिक रूप से भी महत्वपूर्ण बनाते हैं।

चार आर्य सत्य निर्वाण की व्याख्या का आधार हैं। इनमें जीवन की दुःखमय प्रकृति, दुःख के कारण, दुःख की समाप्ति (निर्वाण), और दुःख के अंत तक पहुँचने के मार्ग को विस्तार से बताया गया है। अष्टांगिक मार्ग, जो सम्यक दृष्टि, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, और सम्यक समाधि जैसे आठ तत्वों का समूह है, निर्वाण तक पहुँचने के लिए एक व्यावहारिक साधन है। ये तत्व नैतिकता, ध्यान, और प्रज्ञा के माध्यम से व्यक्ति को मानसिक और आध्यात्मिक रूप से शुद्ध करते हैं।

हीनयान दर्शन में निर्वाण की व्याख्या अनात्मवाद और क्षणिकवाद के संदर्भ में की गई है। यह दृष्टिकोण आत्मा के स्थायित्व को नकारता है और संसार की अस्थिरता और क्षणभंगुरता को स्वीकार करता है। जब व्यक्ति इस सत्य को पूरी तरह से समझ लेता है और तृष्णा का त्याग करता है, तब वह निर्वाण प्राप्त करता है। निर्वाण दो प्रकार का होता हैः सोपाधि–शेष निर्वाण, जो जीवन के दौरान प्राप्त होता है, और अनूपाधि–शेष निर्वाण, जो शरीर के अंत के बाद होता है।

इस प्रकार, निर्वाण एक ऐसी अवस्था है, जहाँ मनुष्य संसार के चक्र से मुक्त होकर शाश्वत शांति प्राप्त करता है। यह केवल एक दार्शनिक सिद्धांत नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक मार्ग है, जो जीवन की समस्याओं का समाधान और आत्मिक मुक्ति का साधन प्रदान करता है। हीनयान दर्शन में निर्वाण का स्थान अनन्य और केंद्रीय है, जो इसे बौद्ध धर्म का सार बनाता है।

7.8 प्रश्न बोध

1. निर्वाण की अवधारणा को बौद्ध दर्शन में कैसे समझा जाता है?
2. हीनयान और महायान में निर्वाण के बीच क्या अंतर है?
3. बुद्ध के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के मुख्य चरण क्या हैं?
4. चार आर्य सत्यों का निर्वाण से क्या संबंध है?
5. अरहत की अवस्था क्या है और यह निर्वाण से कैसे जुड़ी है?
6. हीनयान दर्शन में व्यक्तिगत मुक्ति की अवधारणा का महत्व क्या है?
7. निर्वाण प्राप्ति में अष्टांगिक मार्ग की भूमिका क्या है?
8. सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष निर्वाण में क्या अंतर है?

7.9 उपयोगी पुस्तकें

1. Gethin, Rupert. The Foundations of Buddhism. Oxford University Press, 1998.
2. Batchelor, Stephen. Buddhism Without Beliefs. Riverhead Books, 1997.
3. Kalupahana, David J. Buddhist Philosophy: A Historical Analysis. University of Hawaii Press, 1976.
4. Streng, Frederick J. Emptiness: A Study in Religious Meaning. Abingdon Press, 1967.
5. Warder, A.K. Indian Buddhism. Motilal Banarsidass Publishers, 2000.
6. बोधिसत्त्व की भूमिका, डॉ. भीमराव अंबेडकर, राजकमल प्रकाशन, 2018।
7. हीनयान बौद्ध दर्शन, डॉ. मदन मोहन झा, मोतीलाल बनारसीदास, 2015।
8. बौद्ध दर्शन का इतिहास, डॉ. राहुल सांकृत्यायन, राजकमल प्रकाशन, 2019।
9. बुद्ध और उनका धर्म, दलाई लामा, विकास प्रकाशन, 2016।
10. हिन्दू–बौद्ध दर्शन, डॉ. रामकुमार वर्मा, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 2020।

इकाई 08

वैभाषिक और सौत्रान्तिक में भेद

इकाई की रूपरेखा–

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 हीनयान दर्शनः एक संक्षिप्त परिचय

8.3 वैभाषिक और सौत्रान्तिक : मूल अवधारणाएँ

8.4 वैभाषिक दर्शन

8.4.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

8.4.2 प्रमुख सिद्धांत

8.4.3 ज्ञान मीमांसा और तत्वमीमांसा

8.5 सौत्रान्तिक दर्शन

8.5.1 ऐतिहासिक विकास

8.5.2 मुख्य मान्यताएँ

8.5.3 अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान की भूमिका

8.6 वैभाषिक और सौत्रान्तिक में प्रमुख अंतर

8.6.1 तत्वमीमांसा संबंधी भेद

8.6.2 ज्ञान प्राप्ति के साधनों में अंतर

8.6.3 धर्म और मोक्ष की अवधारणा में भिन्नता

8.7 दोनों दर्शनों का बौद्ध परंपरा में योगदान

8.8 निष्कर्ष

8.9 सारांश

8.10 प्रश्न बोध

8.11 उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य हीनयान बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख संप्रदायों – वैभाषिक और सौत्रान्तिक – के बीच के अंतरों को समझना और उनका विश्लेषण करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात, विद्यार्थी निम्नलिखित बिंदुओं को समझने में सक्षम होंगेः

1. हीनयान दर्शन की मूल अवधारणाओं और उसके ऐतिहासिक विकास को समझना।
2. वैभाषिक दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों, उसकी ज्ञान मीमांसा और तत्वमीमांसा का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना।
3. सौत्रान्तिक दर्शन की मुख्य मान्यताओं और उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को समझना।
4. वैभाषिक और सौत्रान्तिक दर्शनों के बीच तत्वमीमांसा, ज्ञान प्राप्ति के साधनों और मोक्ष की अवधारणा में प्रमुख अंतरों का विश्लेषण करना।
5. दोनों सम्प्रदायों के बौद्ध परंपरा में योगदान का मूल्यांकन करना।

यह अध्याय छात्रों को बौद्ध दर्शन की जटिलताओं को समझने में मदद करेगा, विशेष रूप से हीनयान परंपरा के संदर्भ में। इससे वे न केवल इन दो महत्वपूर्ण संप्रदायों के बीच के अंतरों को पहचान पाएंगे, बल्कि यह भी समझ पाएंगे कि कैसे ये विभिन्न विचारधाराएं बौद्ध दर्शन के समग्र विकास में योगदान करती हैं। इस ज्ञान के माध्यम से, विद्यार्थी बौद्ध दर्शन के विभिन्न पहलुओं पर गहन चिंतन और विश्लेषण करने में सक्षम होंगे, जो उन्हें भारतीय दर्शन के व्यापक संदर्भ में एक समग्र दृष्टिकोण विकसित करने में मदद करेगा।

8.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन, जो भारतीय दार्शनिक परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग है, अपने विकास के दौरान कई शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजित हुआ। इन विभिन्न धाराओं में हीनयान एक प्रमुख विचारधारा के रूप में उभरी, जिसने बौद्ध दर्शन को एक नया आयाम दिया। हीनयान परंपरा में, वैभाषिक और सौत्रान्तिक दो प्रमुख संप्रदाय हैं, जिन्होंने बौद्ध दर्शन की व्याख्या और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही संप्रदाय बुद्ध के मूल शिक्षाओं पर आधारित हैं, लेकिन उनकी व्याख्या और दार्शनिक दृष्टिकोण में कुछ मौलिक अंतर हैं। ये अंतर न केवल उनकी तत्वमीमांसा में दिखाई देते हैं, बल्कि ज्ञान प्राप्ति के साधनों और मोक्ष की अवधारणा में भी प्रतिबिंबित होते हैं।

इस अध्याय में, हम इन दोनों संप्रदायों के मूल सिद्धांतों, उनके ऐतिहासिक विकास, और उनके बीच के प्रमुख अंतरों का गहन अध्ययन करेंगे। यह विश्लेषण हमें न केवल हीनयान दर्शन की बेहतर समझ प्रदान करेगा, बल्कि यह भी दिखाएगा कि कैसे एक ही दार्शनिक परंपरा के भीतर विभिन्न व्याख्याएँ और दृष्टिकोण विकसित हो सकते हैं।

इस अध्ययन के माध्यम से, हम बौद्ध दर्शन की जटिलताओं और उसकी बौद्धिक समृद्धि को समझने का प्रयास करेंगे। साथ ही, यह अध्याय हमें यह भी समझने में मदद करेगा कि कैसे ये विभिन्न विचारधाराएं आपस में संवाद करती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं, जो अंततः बौद्ध दर्शन के समग्र विकास में योगदान करता है।

8.2 हीनयान दर्शनः एक संक्षिप्त परिचय

हीनयान, जिसका शाब्दिक अर्थ है "छोटा यान" या "छोटा मार्ग", बौद्ध धर्म की एक प्राचीन और मौलिक शाखा है। यह नाम महायान अनुयायियों द्वारा दिया गया था, हालांकि इस शब्द को अक्सर अपमानजनक माना जाता है और इसके अनुयायी स्वयं को थेरवादी कहना पसंद करते हैं। हीनयान दर्शन बुद्ध की मूल शिक्षाओं पर आधारित है और व्यक्तिगत मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति पर जोर देता है।

हीनयान दर्शन के मुख्य सिद्धांत हैं:

1. चार आर्य सत्यः दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निरोध, और दुःख निरोध का मार्ग।
2. अष्टांगिक मार्गः सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् समाधि।
3. अनात्मवादः आत्मा या स्थायी स्वयं के अस्तित्व का खंडन।
4. क्षणिकवादः सभी घटनाओं की क्षणभंगुरता का सिद्धांत।
5. प्रतीत्यसमुत्पादः सभी घटनाओं की परस्पर निर्भरता का सिद्धांत।

हीनयान परंपरा में, व्यक्ति को अपने उद्धार के लिए स्वयं प्रयास करना होता है। यह मानता है कि केवल भिक्षु ही निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं और इसलिए गृहस्थ जीवन त्यागना आवश्यक है। हीनयान दर्शन ने कालांतर में दो प्रमुख शाखाओं – वैभाषिक और सौत्रान्तिक – का विकास किया, जो अपने दार्शनिक दृष्टिकोण में कुछ भिन्नताएँ रखती हैं।

1.3 वैभाषिक और सौत्रान्तिक : मूल अवधारणाएँ

वैभाषिक और सौत्रान्तिक , हीनयान बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाएँ हैं, जो अपनी मूल अवधारणाओं में कुछ समानताएँ रखते हुए भी कई महत्वपूर्ण बिंदुओं पर भिन्न हैं।

वैभाषिक दर्शनः

1. वस्तुवादी दृष्टिकोणः वैभाषिक मानते हैं कि बाह्य जगत् वास्तविक है और हमारी इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है।
2. परमाणुवादः वे मानते हैं कि सभी भौतिक वस्तुएँ अविभाज्य परमाणुओं से बनी हैं।
3. क्षणिकवादः उनका मानना है कि सभी धर्म (पदार्थ और घटनाएँ) क्षणभंगुर हैं।
4. स्वलक्षण और सामान्यलक्षणः वे वस्तुओं के विशिष्ट (स्वलक्षण) और सामान्य (सामान्यलक्षण) गुणों में भेद करते हैं।

सौत्रान्तिक दर्शनः

1. अनुमानवादी दृष्टिकोणः सौत्रान्तिक मानते हैं कि बाह्य जगत् का अस्तित्व केवल अनुमान द्वारा जाना जा सकता है।
2. विज्ञानवाद की ओर झुकावः वे चेतना और ज्ञान की भूमिका पर अधिक जोर देते हैं।
3. अपोहवादः वे मानते हैं कि शब्दों का अर्थ नकारात्मक परिभाषा द्वारा निर्धारित होता है।
4. स्वसंवेदनः वे आत्म–जागरूकता की अवधारणा पर बल देते हैं।

दोनों संप्रदाय क्षणिकवाद, अनात्मवाद और निर्वाण की अवधारणा को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनकी व्याख्या में भिन्नता रखते हैं। वैभाषिक अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, जबकि सौत्रान्तिक अधिक आत्मनिष्ठ और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण रखते हैं।

8.4 वैभाषिक दर्शन

वैभाषिक दर्शन हीनयान बौद्ध परंपरा की एक प्रमुख शाखा है, जो लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में कश्मीर क्षेत्र में विकसित हुई। यह नाम "विभाषा" से आया है, जो अभिधर्मपिटक पर लिखी गई टीकाओं का संग्रह है। वैभाषिक को सर्वास्तिवाद के नाम से भी जाना जाता है। वैभाषिक दर्शन का मुख्य सिद्धांत है कि सभी धर्म (पदार्थ और घटनाएँ) तीनों कालों – भूत, वर्तमान और भविष्य – में वास्तविक रूप से विद्यमान रहते हैं। यह दर्शन बाह्य जगत् की वास्तविकता पर बल देता है और मानता है कि यह प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। वैभाषिक के अन्य प्रमुख सिद्धांतों में परमाणुवाद, क्षणिकवाद, और स्वलक्षण–सामान्यलक्षण भेद शामिल हैं। यह दर्शन बुद्ध की मूल शिक्षाओं को एक व्यवस्थित दार्शनिक ढांचे में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। वसुमित्र, धर्मत्रात और संघभद्र इस दर्शन के प्रमुख आचार्य थे। वसुबंधु का "अभिधर्मकोश" इस दर्शन का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। वैभाषिक दर्शन ने बाद के बौद्ध विचारों और भारतीय दर्शन के विकास पर गहरा प्रभाव डाला।

8.4.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वैभाषिक दर्शन का उदय लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ। यह नाम "विभाषा" से आया है, जो कि अभिधर्मपिटक पर लिखी गई टीकाओं का संग्रह है। वैभाषिक संप्रदाय मुख्य रूप से कश्मीर क्षेत्र में विकसित हुआ और इसे सर्वास्तिवाद के नाम से भी जाना जाता है।

इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों में वसुमित्र, धर्मत्रात और संघभद्र शामिल हैं। वसुबंधु का "अभिधर्मकोश" इस दर्शन का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, हालांकि यह ग्रंथ वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों विचारधाराओं का मिश्रण प्रस्तुत करता है।

वैभाषिक दर्शन ने बौद्ध धर्म के अभिधर्म साहित्य का गहन अध्ययन किया और उसकी व्याख्या प्रस्तुत की। यह संप्रदाय बुद्ध की मूल शिक्षाओं को एक व्यवस्थित दार्शनिक ढांचे में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

8.4.2 प्रमुख सिद्धांत

वैभाषिक दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं:

1. सर्वास्तिवादः इस सिद्धांत के अनुसार, सभी धर्म (पदार्थ और घटनाएँ) तीनों कालों – भूत, वर्तमान और भविष्य – में विद्यमान रहते हैं।
2. परमाणुवादः वैभाषिक मानते हैं कि सभी भौतिक वस्तुएँ अविभाज्य परमाणुओं से बनी हैं।
3. क्षणिकवादः वे मानते हैं कि सभी धर्म क्षणभंगुर हैं, लेकिन उनका अस्तित्व सभी कालों में रहता है।
4. बाह्य जगत् की वास्तविकताः वैभाषिक मानते हैं कि बाह्य जगत् वास्तविक है और हमारी इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है।

5. स्वलक्षण और सामान्यलक्षणः वे वस्तुओं के विशिष्ट (स्वलक्षण) और सामान्य (सामान्यलक्षण) गुणों में भेद करते हैं।

8.4.3 ज्ञान मीमांसा और तत्वमीमांसा

वैभाषिक दर्शन की ज्ञान मीमांसा प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है। वे मानते हैं कि हम बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनके अनुसार, ज्ञान की प्रक्रिया में इंद्रियाँ सीधे बाह्य वस्तुओं से संपर्क करती हैं।
तत्वमीमांसा के संदर्भ में, वैभाषिक पंचस्कंध सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि सभी धर्म वास्तविक हैं, लेकिन वे क्षणिक हैं। उनका मानना है कि प्रत्येक क्षण में नए धर्म उत्पन्न होते हैं और पुराने नष्ट हो जाते हैं।

8.5 सौत्रान्तिक दर्शन

सौत्रान्तिक दर्शन हीनयान बौद्ध परंपरा की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो लगभग दूसरी शताब्दी ईस्वी में विकसित हुई। यह नाम "सूत्र" शब्द से व्युत्पन्न है, क्योंकि इस संप्रदाय के अनुयायी बुद्ध के मूल सूत्रों पर अधिक निर्भर थे, न कि अभिधर्म साहित्य पर। सौत्रान्तिक दर्शन वैभाषिक की तुलना में अधिक आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। इसकी प्रमुख मान्यताओं में बाह्य जगत् का अनुमानगम्य अस्तित्व, क्षणिकवाद, अपोहवाद, और स्वसंवेदन शामिल हैं। सौत्रान्तिक मानते हैं कि बाह्य जगत् का ज्ञान सीधे प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि अनुमान के माध्यम से प्राप्त होता है। इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति शामिल हैं। दिङ्नाग का "प्रमाणसमुच्चय" और धर्मकीर्ति का "प्रमाणवार्तिक" इस दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। सौत्रान्तिक दर्शन ने बौद्ध तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसने बाद के महायान और वज्रयान बौद्ध दर्शन के विकास को प्रभावित किया और भारतीय दार्शनिक परंपरा को समृद्ध किया। यह दर्शन आज भी बौद्ध अध्ययन और दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

8.5.1 ऐतिहासिक विकास

सौत्रान्तिक दर्शन का उदय लगभग दूसरी शताब्दी ईस्वी में हुआ। यह नाम "सूत्र" शब्द से आया है, क्योंकि इस संप्रदाय के अनुयायी बुद्ध के मूल सूत्रों पर अधिक निर्भर थे, न कि अभिधर्म साहित्य पर। इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति शामिल हैं। दिङ्नाग का "प्रमाणसमुच्चय" और धर्मकीर्ति का "प्रमाणवार्तिक" इस दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। सौत्रान्तिक दर्शन वैभाषिक की तुलना में अधिक आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाता है।

8.5.2 मुख्य मान्यताएँ

सौत्रान्तिक दर्शन की कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैंः

1. बाह्य जगत् का अनुमानगम्य अस्तित्वः सौत्रान्तिक मानते हैं कि बाह्य जगत् का अस्तित्व केवल अनुमान द्वारा जाना जा सकता है, न कि प्रत्यक्ष रूप से।
2. क्षणिकवादः वे भी मानते हैं कि सभी धर्म क्षणभंगुर हैं, लेकिन उनकी व्याख्या वैभाषिक से भिन्न है।

3. अपोहवादः वे मानते हैं कि शब्दों का अर्थ नकारात्मक परिभाषा द्वारा निर्धारित होता है।

4. स्वसंवेदनः वे आत्म–जागरूकता की अवधारणा पर बल देते हैं।

5. संतानवादः वे मानते हैं कि धर्मों का प्रवाह निरंतर चलता रहता है।

1.5.3 अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान की भूमिका

सौत्रान्तिक दर्शन में अनुमान की भूमिका महत्वपूर्ण है। वे मानते हैं कि बाह्य जगत् का ज्ञान सीधे प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता, बल्कि अनुमान के माध्यम से प्राप्त होता है। उनके अनुसार, हम केवल अपनी संवेदनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व इन संवेदनाओं से अनुमानित किया जाता है। वे प्रत्यक्ष ज्ञान को दो भागों में विभाजित करते हैं – निर्विकल्पक (बिना किसी कल्पना के) और सविकल्पक (कल्पना के साथ)। उनका मानना है कि वास्तविक ज्ञान निर्विकल्पक होता है।

8.6 वैभाषिक और सौत्रान्तिक में प्रमुख अंतर

वैभाषिक और सौत्रान्तिक , हीनयान बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाएँ, कई महत्वपूर्ण बिंदुओं पर भिन्न हैं। वैभाषिक बाह्य जगत् को प्रत्यक्ष रूप से जानने योग्य मानते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इसे केवल अनुमान द्वारा जानने योग्य मानते हैं। वैभाषिक सर्वास्तिवाद और परमाणुवाद को स्वीकार करते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इन्हें अस्वीकार करते हैं। ज्ञान प्राप्ति के संदर्भ में, वैभाषिक प्रत्यक्ष ज्ञान पर जोर देते हैं, जबकि सौत्रान्तिक अनुमान और विश्लेषण को अधिक महत्व देते हैं। निर्वाण की प्रकृति और मोक्ष मार्ग की व्याख्या में भी दोनों संप्रदायों के बीच मतभेद हैं।

8.6.1 तत्वमीमांसा संबंधी भेद

वैभाषिक और सौत्रान्तिक के बीच तत्वमीमांसा संबंधी कुछ प्रमुख भेद इस प्रकार हैं:

1. बाह्य जगत् की वास्तविकताः वैभाषिक मानते हैं कि बाह्य जगत् प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है, जबकि सौत्रान्तिक का मानना है कि यह केवल अनुमान द्वारा जाना जा सकता है।

2. धर्मों का अस्तित्वः वैभाषिक मानते हैं कि धर्म तीनों कालों में विद्यमान रहते हैं (सर्वास्तिवाद), जबकि सौत्रान्तिक इस विचार को अस्वीकार करते हैं।

3. परमाणुवादः वैभाषिक परमाणुवाद को स्वीकार करते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इस सिद्धांत की आलोचना करते हैं।

8.6.2 ज्ञान प्राप्ति के साधनों में अंतर

ज्ञान प्राप्ति के साधनों में भी दोनों संप्रदायों के बीच महत्वपूर्ण अंतर हैं:

1. प्रत्यक्ष ज्ञानः वैभाषिक मानते हैं कि बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है, जबकि सौत्रान्तिक केवल संवेदनाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वीकार करते हैं।

2. अनुमान की भूमिकाः सौत्रान्तिक अनुमान को ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं, जबकि

वैभाषिक इस पर कम जोर देते हैं।

3. स्वसंवेदनः सौत्रान्तिक स्वसंवेदन (आत्म–जागरूकता) की अवधारणा पर बल देते हैं, जो वैभाषिक दर्शन में उतना महत्वपूर्ण नहीं है।

8.6.3 धर्म और मोक्ष की अवधारणा में भिन्नता

धर्म और मोक्ष की अवधारणा में भी दोनों संप्रदायों के बीच कुछ अंतर हैंः

1. निर्वाण की प्रकृतिः वैभाषिक निर्वाण को एक वास्तविक धर्म मानते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इसे केवल दुःख के अभाव के रूप में देखते हैं।

2. मार्ग की प्रकृतिः वैभाषिक मोक्ष मार्ग को अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखते हैं, जबकि सौत्रान्तिक इसे अधिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं।

3. बोधिसत्व मार्गः सौत्रान्तिक बोधिसत्व मार्ग की अवधारणा को अधिक महत्व देते हैं, जो वैभाषिक में उतना प्रमुख नहीं है।

8.7 दोनों दर्शनों का बौद्ध परंपरा में योगदान

वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों दर्शनों ने बौद्ध परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया हैः

1. दार्शनिक विकासः दोनों संप्रदायों ने बौद्ध दर्शन को एक व्यवस्थित और तार्किक रूप प्रदान किया, जो बाद के महायान और वज्रयान विचारधाराओं के विकास में सहायक हुआ।
2. तर्कशास्त्र का विकासः विशेष रूप से सौत्रान्तिक दर्शन ने बौद्ध तर्कशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जो बाद में भारतीय दर्शन की एक प्रमुख विशेषता बन गई।
3. अभिधर्म की व्याख्याः वैभाषिक ने अभिधर्म साहित्य की गहन व्याख्या प्रस्तुत की, जो बौद्ध दर्शन के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्रोत बन गया।
4. ज्ञानमीमांसा का विकासः दोनों संप्रदायों ने ज्ञान की प्रकृति और उसकी प्राप्ति के साधनों पर गहन चिंतन किया, जो बाद के भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण विषय बना।
5. अन्य दर्शनों से संवादः इन दोनों संप्रदायों ने अन्य भारतीय दर्शनों, विशेषकर न्याय और वैशेषिक, के साथ संवाद स्थापित किया, जिससे भारतीय दार्शनिक परंपरा समृद्ध हुई।

8.8 निष्कर्ष

वैभाषिक और सौत्रान्तिक , हीनयान बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख संप्रदाय, अपने–अपने विशिष्ट दृष्टिकोणों के साथ बौद्ध दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दोनों ने बुद्ध की मूल शिक्षाओं की व्याख्या में अपना योगदान किया, लेकिन अपने दार्शनिक दृष्टिकोणों में भिन्नता रखी।

वैभाषिक, अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ, बाह्य जगत् की वास्तविकता और प्रत्यक्ष ज्ञान पर जोर देते हैं। वहीं सौत्रान्तिक, अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए, अनुमान और परोक्ष ज्ञान की महत्ता पर बल देते हैं। इन अंतरों ने बौद्ध दर्शन को समृद्ध किया और बाद में महायान जैसी अन्य शाखाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

दोनों संप्रदायों ने बौद्ध तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और तत्वमीमांसा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। उनके विचारों ने न केवल हीनयान परंपरा को समृद्ध किया, बल्कि समग्र बौद्ध दर्शन के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अंत में, यह कहा जा सकता है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक संप्रदायों के बीच के अंतर और उनके संवाद ने बौद्ध दर्शन को एक गतिशील और विकासशील परंपरा बनाए रखने में मदद की। उनके योगदान ने बौद्ध चिंतन को गहराई और विविधता प्रदान की, जो आज भी बौद्ध अध्ययन और दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है।

8.9 सारांश

इस अध्याय में हमने हीनयान बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख संप्रदायों – वैभाषिक और सौत्रान्तिक – का तुलनात्मक अध्ययन किया। दोनों संप्रदाय बुद्ध की मूल शिक्षाओं पर आधारित हैं, लेकिन उनकी व्याख्या और दार्शनिक दृष्टिकोण में कुछ महत्वपूर्ण अंतर हैं।

वैभाषिक संप्रदाय, जो "विभाषा" ग्रंथों पर आधारित है, एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है। वे बाह्य जगत् की वास्तविकता, प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रधानता, और परमाणुवाद जैसे सिद्धांतों पर बल देते हैं। इसके विपरीत, सौत्रान्तिक संप्रदाय, जो बुद्ध के मूल सूत्रों पर अधिक निर्भर है, एक अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखता है। वे बाह्य जगत् के परोक्ष ज्ञान, अनुमान की महत्ता, और अपोहवाद जैसे सिद्धांतों पर जोर देते हैं।

दोनों संप्रदायों के बीच प्रमुख अंतर उनकी तत्वमीमांसा, ज्ञान प्राप्ति के साधनों, और धर्म एवं मोक्ष की अवधारणाओं में देखे जा सकते हैं। इन अंतरों के बावजूद, दोनों संप्रदायों ने बौद्ध दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने बौद्ध तर्कशास्त्र, अभिधर्म की व्याख्या, और बौद्ध साहित्य के विस्तार में अहम भूमिका निभाई है।

अंत में, यह समझना महत्वपूर्ण है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक के बीच के अंतर और संवाद ने बौद्ध दर्शन को एक जीवंत और विकासशील परंपरा बनाए रखा है। उनके योगदान ने न केवल हीनयान परंपरा को समृद्ध किया, बल्कि समग्र बौद्ध दर्शन के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

8.10 प्रश्न बोध

1. हीनयान दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
2. वैभाषिक और सौत्रान्तिक संप्रदायों के बीच मुख्य अंतर क्या हैं? उदाहरण सहित समझाइए।
3. वैभाषिक दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
4. सौत्रान्तिक दर्शन में अनुमान के महत्व की विवेचना कीजिए।
5. वैभाषिक और सौत्रान्तिक संप्रदायों के बीच तत्वमीमांसा संबंधी भेदों का विश्लेषण कीजिए।
6. सौत्रान्तिक दर्शन में अपोहवाद की अवधारणा को समझाइए।

7. वैभाषिक दर्शन के परमाणुवाद सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

8. सौत्रान्तिक दर्शन में अपोहवाद की अवधारणा को समझाइए। यह सिद्धांत भाषा और अर्थ के संबंध को कैसे समझता है?

9. वैभाषिक दर्शन के सर्वास्तिवाद सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। सौत्रान्तिक इस सिद्धांत का खंडन क्यों करते हैं?

10. वैभाषिक और सौत्रान्तिक दर्शनों के अध्ययन से आधुनिक बौद्ध चिंतन और दर्शन को क्या लाभ हो सकते हैं ? विवेचना कीजिए।

8.11 उपयोगी पुस्तकें

1. वसुबंधु. अभिधर्मकोश. अनुवादक प्रो. नरेंद्र देव, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, 1992.
2. देव, आचार्य नरेंद्र. बौद्ध दर्शन मीमांसा. राजकमल प्रकाशन, 2009.
3. सांकृत्यायन, राहुल. बौद्ध दर्शन. किताब महल, 2013.
4. हिरियन्ना, एम. भारतीय दर्शन की रूपरेखा. अनुवादक गोविंद चंद्र पांडे, राजकमल प्रकाशन, 2005.
5. बापट, पी.वी. बौद्ध धर्म दर्शन. नेशनल बुक ट्रस्ट, 2011.

उ० प्र० राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAPH-112 (N)
बौद्ध दर्शन

खण्ड–3 शून्यवाद या माध्यमिक दर्शन

इकाई–9 शून्यवादी का तर्क और दर्शन	85
इकाई–10 द्वन्द्वात्मक तर्क, शून्यता का स्वरुप	93
इकाई–11 अजातिवाद, निर्वाण	101

इकाई–9
शून्यवादी का तर्क और दर्शन

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 महायानसूत्र
9.3 शून्यवादी का तर्क और दर्शन
9.4 मूल अवधारणा
9.5 चार कोटियों से अलग
9.6 शून्य ही स्वतः सिद्ध
9.7 प्रमुख आक्षेप
9.8 निष्कर्ष
9.9 बोध प्रश्न
9.10 उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्यः– शून्यवाद को माध्यमिक दर्शन भी कहा जाता है क्योंकि वे बुद्ध के मध्यम मार्ग के अनुयायी हैं। शून्यवाद में वस्तुतः बौद्ध दर्शन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा है जिसमें योगाचार दर्शन का विज्ञानमात्र तत्व पारमार्थिक और अनिवर्चनीय शून्य में विलीन हो गया। प्रस्तुत खण्ड में शून्यवाद का सम्यक् ज्ञान कराया जाएगा।

9.1 प्रस्तावना– गौतम बुद्ध के 'आध्यात्मिक निरपेक्षतत्ववाद' को हीनयान दर्शन ने 'बहुलवादी वस्तुवाद' के रुप में परिवर्तित कर दिया जिसकी प्रतिक्रिया में महायान दर्शन का उदय एवं विकास हुआ। 'महायान वैपुल्यसूत्र' महायान दर्शन का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है जिसमें प्रज्ञापारमिताएँ एवं सदधर्मपुण्डरीक आदि अत्यन्त प्राचीन है। इनमें शून्यवाद का विस्तृत प्रतिपादन है। किन्तु शून्यवाद को सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं तार्किक स्वरुप देने का श्रेय आचार्य नागार्जुन को है। आचार्य नागार्जुन के पूर्व आचार्य अश्वघोष हुए जो महाराज कनिष्क के समकालीन थे। अश्वघोष का 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' नामक ग्रंथ मूल संस्कृत में उपलब्ध नही है तथा चीनी अनुवाद में उपलब्ध है। अश्वघोष के अन्य ग्रंथों में बुद्ध चरित, सौन्दरनन्द और 'शारिपुत्रप्रकरण' आदि हैं। आचार्य नागार्जुन ने विज्ञानवादियों के यथार्थता के सापेक्ष दृष्टिकोण से शून्यवादी विचारधारा का विकास किया। उनकी माध्यमिककारिका, विग्रहव्यावर्तिनी, प्रज्ञापारमिता, शून्यवाद की आधारशिला है। कालान्तर में आर्यदेव, शान्तिदेव,

चन्द्रकीर्ति, शान्तिरक्षित, भावविवेक, बुद्धपालित आदि ने शून्यवाद का विकास किया। आर्यदेव का चतुःशतक या बोधिसत्व–योगाचार–शास्त्र, चन्द्रकीर्ति का मध्यमकावतार और प्रसन्नपदा, शान्तिदेव का शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार, शान्तिरक्षित का 'तत्वसंग्रह' एवं 'माध्यमिकालंकारकारिका' इस सम्प्रदाय के अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। शून्यवाद ने विज्ञानवाद के आनुभाविक चिन्तन को उसके तार्किक अभ्युपगम तक पहुँचाया तथा 'शून्य' को ही एकमात्र तत्व घोषित कर उसे एक विशिष्ट अर्थ प्रदान किया।

हीनयान दर्शन ने 'सर्वम अस्ति' की संकल्पना को स्वीकार कर वस्तु और चेतना दोनों के अस्तित्व को मान्यता दी। वैभाषिक दर्शन ने वाह्य वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष के माध्यम से बताया, परन्तु सौत्रान्तिक सम्प्रदाय ने वाह्यप्रत्यक्षवाद एवं क्षणभङग्वाद में विरोध बताकर वाह्यानुमेयवाद को स्वीकार किया तथा चित्त में उत्पन्न आकार या प्रत्यय के माध्यम से वस्तु के अनुमान को स्वीकार किया। विज्ञानवाद ने वस्तु का खण्डन कर प्रत्यय या विज्ञानों की सत्ता स्वीकार की। यहाँ पर माध्यमिक सम्प्रदाय ने विज्ञानवाद के विज्ञान का खण्डन करके 'शून्य' को तत्व घोषित किया। माध्यमिक कहते हैं कि योगाचार सम्प्रदाय जिन युक्तियों का प्रयोग करके वस्तु की सत्ता का निषेध करता है उन्हीं युक्तियों के आधार पर आत्मा (तथाकथित आलयविज्ञान) का भी खण्डन किया जा सकता है। यदि हम संवेदनों के माध्यम से वाह्य वस्तु की सत्ता नहीं सिद्ध कर सकते तो फिर प्रत्ययों के आगार के रुप में आत्म चेतना (आलय विज्ञान) तक कैसे पहुँच सकते हैं? जब गुणों के आधार पर वस्तु की सिद्धि नहीं कर सकते तो फिर विचारों (विज्ञानों) के आधार पर आत्मतत्व को कैसे सिद्ध कर सकते हैं? माध्यमिकों ने दिखाया कि विज्ञानवादियों ने सदैव विषयी (प्रमाता) की सत्ता को पूर्वमान्यता के रुप में लेकर इन्द्रियजगत् को आभासमात्र माना। माध्यमिकों ने इस चिंतन पद्धति को और आगे बढ़ाया एवं आलय विज्ञान की सत्ता का भी निराकरण करके विचारों के प्रवाहमात्र का प्रतिपादन करके वाह्य जगत् के समान उसे भी व्यवहार भूमि का एक अंग बना दिया।

आचार्य नागार्जुन के पूर्व आचार्य अश्वघोष हुए जो कुषाणवंशी शासक महाराज कनिष्क के समकालीन थे। किंवदन्ती है कि जिस दिन इनका जन्म हुआ, उस दिन घोड़े हिनहिनाए। अतः इनका नाम अश्वघोष पड़ा। अश्वघोष का 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' नामक ग्रंथ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है तथा चीनी अनुवाद में उपलब्ध है। अश्वघोष ने महात्मा बुद्ध के आध्यात्मिक अद्धैतवाद को उपनिषद् दर्शन के आलोक में पुनः प्रतिष्ठित किया। अश्वघोष के अनुसार मूल तत्व 'तथता' है। यह निर्विकार और सदा एक सा रहता है। सत्ता की दृष्टि से इसे 'भूततथता' कहते हैं, बोध की दृष्टि से 'बोधि' या 'प्रज्ञा', व्यापकता की दृष्टि से 'धर्मकाय' या 'धर्मधातु' तथा आनन्द की दृष्टि से 'तथागतगर्भ'। इन्द्रिय, बुद्धि और वाणी की पहुँच से बाहर होने के कारण यह अतीन्द्रिय, बुद्धिविकल्पातीत और अनिर्वचनीय है। संसार न सत् है और न असत्। अतः मिथ्या है। बुद्धि की चार कोटियाँ होती हैं, सत्, असत्, सदसत् और सदसदभिन्न। बुद्धि इन कोटियों और विकल्पों के द्वारा वस्तु के स्वरुप की अन्यथाप्रतीति कराती है। तत्व चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। अविद्या से प्रतीत्य समुत्पाद चक्र या जन्म–मरण चक्र चलता है; अविद्या–निवृत्ति से निर्वाण प्राप्त होता है। निर्विकल्प और निरुपाधि 'भूततथता' अविद्या के कारण सविकल्प 'सोपाधितथता' के रुप में प्रतीत होता है। जिस प्रकार मृत्तिका उपाधि भेद से नाना प्रकार के कलशादि रुपों में

प्रतीत होती है उसी प्रकार तथता अनेक जीवों तथा जड़ पदार्थो के रुप में प्रतीत होता है। विषयी जीव एवं विषय जगत् के रुप में भासित यह सम्पूर्ण संसार इसी 'सोपाधितथता' की लीला है। निरुपाधि भूततथता का साक्षात्कार निर्वाण है, बुद्ध–ज्ञान है, परमार्थ है और जीवन का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो बीजरुप से अश्वघोष के दर्शन में न मिले।

9.2 महायान सूत्र

महायान सूत्र महायान सम्प्रदाय का उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें शून्य के सभी सिद्धान्तों का समावेश है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारगिता सूत्र, शतसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता सूत्र, सद्धर्मापुण्डरीक सूत्र, समाधिराज, लंकावतार आदि महायान सूत्र बारम्बार और साग्रह प्रतिपादन करते हैं कि तत्व अद्धैत है तथा उसका साक्षात्कार अपरोक्षानुभूति या प्रज्ञापारमिता द्वारा हो सकता है। तत्व बुद्धि–ग्राह्य नहीं है। संसार के समस्त धर्म अर्थात जीव एवं मानस तथा वाह्य पदार्थ बुद्धि–ग्राह्य होने के कारण मिथ्या हैं। प्रत्येक बुद्धिगम्य पदार्थ तत्वचिन्तन के सम्मुख नहीं टिक सकता, विचार के तीव्र आघातों को नहीं सह सकता। अतः समस्त बुद्धि–गम्य पदार्थ स्वभाव–शून्य, प्रतीत्यसमुत्पन्न परमार्थतः अनुत्पन्न सापेक्ष और सविकल्प होने के कारण मिथ्या सिद्ध होते हैं। सब पदार्थ नामरुप हैं; माया हैं; नामरुप ही माया है और माया ही नामरुप है।

नामरुपमेव माया मायैव नामरुपम्।

(शतसाहस्रिका प्र.पा.)

माया प्रज्ञप्ति है, व्यवहार है। माया न सत् है और न असत् और न सदसत् है, इसकी अपनी कोई सत्ता , अपना कोई पद नहीं है।

मायायाः पदं न विद्यते

(वही)

समस्त धर्म या पदार्थ माया, स्वप्न, प्रतिध्वनि, प्रतिभास के समान मिथ्या हैं, कदली–स्कन्ध के समान निः सार हैं। प्रपंचमिथ्यात्व पर बल देने के कारण कभी–कभी महायानसूत्रों में सारे पदार्थो को शशश्रृंग, बन्ध्यापुत्र, गन्धर्वनगर, द्विचन्द्रदर्शन, तैमिरिक दृष्टि, अलातचक्र, इन्द्रजाल आदि के समान असत् और अलीक तक कह दिया है। वस्तुतः न उपत्ति है, न संसार है, न निर्वाण है, न शुद्धि है, न अशुद्धि है, न आना है; न जाना है। सब धर्म तथागत के समान सम हैं। जो यह जान लेता है कि वह अमृत एवं शिवनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि महायान सूत्रों में जगत् को कभी–कभी बन्ध्यापुत्र और शशश्रृंग के समान असत् और अलीक तक कह दिया गया है। तथापि उनका तात्पर्य जगत् के असत्व से नहीं, वरन् मिथ्यात्व से है क्योंकि वे बार–बार जगत् को सदसदनिर्वचनीय कहते हैं। महायान सूत्रों में जगत् की व्यावहारिक सत्ता बारम्बार स्वीकार की गई है। सदधर्मपुण्डरीक मे उल्लेख है कि जब तक हम बुद्धि–विकल्पों में ही फँसे हैं तब तक हम अन्धकार में है, जब हम बुद्धि की सीमा जानकर उससे ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं तब

हमारे नेत्र खुलने लगते हैं। जब हम विशुद्ध प्रज्ञा का साक्षात्कार करते हैं, तब हमें बुद्ध–ज्ञान प्राप्त होता है। अष्ट साहास्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में इस ज्ञान को निष्प्रपन्च, निरक्षर, वितर्कशून्य, अनभिलाप्य, सम्यक् सम्बोधि कहा गया है। इसमें सब प्रपन्च एवं बुद्धि की सारी कल्पनाएँ विलीन हो जाती हैं। परमार्थ में अद्वैत है, भेद मिथ्या है किन्तु व्यवहार में जगत् की सहायता से हम निर्वाण की ओर जाते हैं। यदि समुद्र में यान डूबने लगे तो किसी काष्ठ फलक या अन्य तैरने वाले पदार्थ का सहारा लेकर तट पर पहुँचा जा सकता है, इसी प्रकार बुद्धि से सद्धर्म, षट्पारमिता का आश्रय लेकर भवसागर पार किया जा सकता है। यदि बुद्धि को सर्वथा त्याज्य मान लिया जाए तो कभी भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। यद्यपि परमार्थ में बुद्ध–वचन अवचन है, वागतीत है, मौन है, तथापि व्यवहार में तथागत ने करुणावश उपदेश दिया है।

महायान सूत्रों में साधनामार्ग ध्यान चतुष्टय, समाधित्रय, पारमिताषटक, चार ब्रह्मविहार और भूमिदशक के रुप में वर्णित है। ध्यान–चतुष्टय में चार ध्यान आये हैं–

1. प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानांग होते हैं।
2. द्वितीय ध्यान में अध्यात्मसम्प्रसाद, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानांग होते हैं।
3. तृतीय ध्यान में उपेक्षा, स्मृति, सम्प्रज्ञान, सुख और समाधि से युक्त पाँच ध्यानाङ्ग होते हैं।
4. अदुःखसुखवेदना, उपेक्षा परिशुद्धि, स्मृतिपरिशुद्धि और समाधि ये चार ध्यानाङ्ग होते है।

तीन समाधि हैं। 'शून्यता समाधि' जिसमें संसार की स्वभावशून्यता तथा तत्व की प्रपन्चशून्यता का ज्ञान होता है; अनिमित्त समाधि होने वाले अधिष्ठान रुप तत्व को ही सत्य मान लेते हैं तथा 'अप्रणिहित समाधि' जिसमें प्रपन्चावरण हटाकर तत्व का साक्षात्कार किया जाता है। षट् पारमिता ये हैं– दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञापारमिता। कभी–कभी दस पारमिता का वर्णन भी मिलता है, किन्तु चार अन्य पारमिताओं का अन्तर्भाव इस छह पारमिता में हो जाता है। चार बह्म–विहार हैं– मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा। संसार भर को अपना मित्र समझना मैत्री है। दुःखी प्राणियों को देखकर सहृदय व्यक्ति के हृदय में जो स्पन्दन होता है, वह करुणा है। दूसरों को सम्पन्न देखकर खुश होना मुदिता है। दुष्ट लोगों के व्यवहार की तरफ ध्यान न देना उपेक्षा है। दश भूमियाँ हैं– प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, धर्ममेधा। अन्तिम भूमि धर्ममेधा में बोधिसत्व का सर्वज्ञ ज्ञानाभिषेक होता है एवं वह अप्रमेयगुणज्ञानयुक्त होकर प्रतिष्ठित होता है। इस निर्वाण प्राप्ति के बाद भी बोधिसत्व दुःखसन्तप्त प्राणियों को 'महायान' में बैठा कर भव–सागर के पार अनुत्तर, अशोक, अभय, शिव, धर्मधातु के तट पर ले जाता है। वह दुःखसन्तप्त प्राणियों को ज्ञान–वर्षा से शीतल और सुखी बनाना चाहता है। यह है महायान का आदर्श। समाधिराजसूत्र में उल्लेख है कि शून्यता के सत्यार्थ को समझे बिना ही लोग शून्यवादी पर मिथ्या लांछन लगाते हैं, किन्तु शून्यवादी उनसे विवाद नहीं करता। अद्वय शून्यवाद में विवाद को स्थान कहाँ? यदि कोई शून्यता का अर्थ न समझे या समझे तो यह उसी का दोष है, न कि शून्यता का या शून्यवादी का। जिस प्रकार कोई रोगी कुशल वैद्य द्वारा दिये गए औषधि का ही सेवन न करे तो यह उस रोगी का ही दोष है, न कि औषधि का या वैद्य का।

9.3 शून्यवाद का तर्क एवं दर्शन–

शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय का उदय हीनयान के दोषों को दूर करके बुद्धोपदिष्ट अद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए हुआ। हीनयान ने प्रतीत्यसमुत्पाद को वास्तविक कारणकार्यवाद माना और उसके आधार पर क्षणभङ्ग्वाद की स्थापना करके क्षणिक परमाणु एवं क्षणिक विज्ञान की स्थापना की। माध्यमिक दर्शन ने इसका प्रखर खण्डन किया। उसके अनुसार बुद्धि की कोटियाँ तत्व के रुप को प्रकाशित करने के स्थान पर उसे अन्यथा रुप में प्रतीत कराते हैं। तत्व चुष्कोटिविनिर्मुक्त है, अतः उसका साक्षात्कार अपरोक्षानुभूति से ही हो सकता है। बुद्धि की कोटियों के द्वारा प्रतिपादित सारे दार्शनिक मत अन्तर्विरोधग्रस्त हैं। बुद्धि का स्वभाव ही अनिवार्यतः अन्तर्विरोधयुक्त है। ये विरोध बुद्धि के स्तर पर नहीं सुलझ सकते; इन्हें सुलझाने के लिए सविकल्प बुद्धि को निर्विकल्प प्रज्ञा के स्तर पर उठाना होगा। दार्शनिकों का संघर्ष एवं विरोध ज्ञान के दार्शनिक स्तर पर है। यह संघर्ष इन्द्रियानुभव के सामान्य लोक व्यवहार के स्तर का ही है। लोक व्यवहार की भ्रान्तियाँ और दोष वैज्ञानिक ज्ञान से दूर किये जा सकते हैं। यदि वैज्ञानिक सिद्धान्तों में परस्पर विरोध हो तो उन्हें इन्द्रियानुभव द्वारा परीक्षण के आधार पर दूर किया जा सकता है। किन्तु दार्शनिक मत अतीन्द्रिय पदार्थो का विवेचन करते हैं जिनका परीक्षण इन्द्रियानुभव से नहीं किया जा सकता। ईश्वर, आत्मा, प्रकृति आदि का अनुभव इन्द्रियप्रत्यय से नहीं हो सकता। पुनश्च, दार्शनिक मतों का संघर्ष भौतिक पदार्थो का संघर्ष नहीं है, बुद्धि अपने विकल्पों द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य संवेदनों को सविकल्प ज्ञान के रुप में परिणत करती है और उनके आधार पर वैज्ञानिक नियम बनाती है। पर जब बुद्धि लोक–व्यवहार से ऊपर उठकर अतीन्द्रिय तत्वों की मीमांसा करना प्रारम्भ करती है तथा अपनी कोटियों के जाल में तत्व को आबद्ध करके उपस्थित करने का दम्भ भरती है तब वह दार्शनिक स्तर पर कार्य करने लगती है और दार्शनिक मतों के संघर्ष और विरोधों को जन्म देती है। बुद्ध के उपदेशों के मर्म जानकर माध्यमिक सम्प्रदाय ने अपने प्रखर द्वन्दात्मक तर्क से बुद्धिग्राह्य पदार्थो की तात्विक सत्ता का निराकरण करके तत्व की स्वानुभूति–गम्यता का संकेत किया है।

माध्यमिक का द्वन्द्वात्मक तर्क सभी दार्शनिक मतों का खण्डन करता है। प्रत्येक दार्शनिक मत तत्व का पूर्ण और सत्य विवेचन करने का दावा करता है जो दार्शनिक चिन्तन से ही खोखला सिद्व होता है। बुद्धि की कोटियाँ नैसर्गिक रुप से अन्तर्विरोधग्रस्त हैं, अतः प्रत्येक दार्शनिक मत में अन्तर्विरोध आना स्वाभाविक है। बुद्धि पक्ष और विपक्ष दोनो की सिद्धि के लिए तुल्य बल युक्तियाँ प्रस्तुत करती है और हम बुद्धि के आधार पर पक्ष या विपक्ष की सत्यता का निश्चय नहीं कर सकते। किन्तु माध्यमिक इस आधार पर किसी पक्ष का खण्डन नहीं करता कि उसका विपक्ष उसी के समान शक्ति रखता है; वह अन्तर्विरोधग्रस्त होने के आधार पर पक्ष का खण्डन करता है और इसी आधार पर विपक्ष का भी खण्डन करता है। बुद्धिकल्पना– प्रसूत समस्त दार्शनिक मत अपने ही अन्तर्विरोध के कारण निराकृत हैं। इसे प्रसङ्ग्ापादन कहते हैं। एक मत का निराकरण उसके विपक्षी मत का या अन्य मत का स्वीकरण नहीं होता और न ही किसी मत के निराकरण के लिए निराकर्त्ता का अपना कोई मत होना आवश्यक है। माध्यमिक का कोई मत नहीं है, अतः उसके तार्किक सिद्धान्त नियम या तर्क–पद्धति नहीं है। वह

प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत, तर्क–पद्धति द्वारा ही उसमें अन्तर्विरोध बताकर उसे निरस्त करता है। माध्यमिक दर्शन तर्क करने के लिए तर्क न करके यह आध्यात्मिक उपदेश देता है कि तत्व बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु स्वानुभूतिगम्य है। अतः बौद्धिक वाद–विवाद की अपेक्षा आध्यात्मिक साधना द्वारा निरपेक्ष अद्वैत तत्व का साक्षात्कार करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

9.4 मूल अवधारणा

बौद्ध दर्शन का महायान सम्प्रदाय गौतम बुद्ध के चिन्तन को तार्किक निष्कर्ष पर पहुँचाने का प्रयास करता है, जिसके अन्तर्गत नागार्जुन विभिन्न सिद्धान्तों को एक सूत्र मे एकत्र कर शून्यवाद प्रस्तुत करते हैं। बौद्धों के सर्वशून्यम् एवं प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर शून्यता शब्द का प्रयोग दो अर्थो में होता है– प्रथम अर्थ–खण्डन एवं द्वितीय अर्थ– पूर्णता, के रुप में व्याख्यायित होता है।

प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार इस जगत की वस्तुएं एक दूसरे पर निर्भर है अर्थात् वस्तु का अस्तित्व अन्य वस्तुओं के अस्तित्व से निर्धारित होता है। प्रतीत्य समुत्पाद इस व्याख्या क आधार पर नागार्जुन कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्रता से शून्य है। वस्तुओं की परतन्त्रता, निरन्तरता एवं परिवर्तनशीलता उसकी शून्यता को स्पष्ट करती है।

इस अर्थ में नागार्जुन व्यवहार में समस्त वस्तुओं को स्वभाव शून्य घोषित करते हैं। माध्यमिक कारिका के अनुसार जो प्रतीत्यसमुत्वाद को देखते हैं वह शून्यता को देखता है। इस कथन से फलित होता है कि जो सापेक्ष है, वह निःस्वभाव है, यही शून्यता है।

पारमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्य समुत्पाद प्रपंच शून्य है, जहाँ समस्त प्रपंचों का नाश हो जाता है। माध्यमिक कारिका के आरम्भ में नागार्जुन आठ प्रकार के प्रपंचों का उल्लेख करते है। यह आठ प्रकार उत्पाद– निरोध, नित्य–अनित्य, एक–अनेक, आगमन–निगमन है। इन आठों प्रपंचों से रहित होने के कारण परमार्थ प्रपंच शून्य है।

इस क्रम में नागार्जुन 'माध्यमिक कारिका के प्रथम अध्याय 'प्रत्यय परीक्षा' में कारणता सम्बन्धी विभिन्न मतों को अमान्य सिद्ध कर प्रतीत्य समुत्पाद को सापेक्षता के अर्थ में ग्रहण करते है। यहाँ शून्यता का अर्थ 'अभाव' के बजाय 'रहित' है। पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कारण–कार्य नही है। यह बौद्धों का अजातिवाद सिद्धान्त कहलाता है।

शून्यवाद को मध्यम प्रतिपदा भी कहते हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद पर आधारित अपनी व्याख्या में नागार्जुन न तो वस्तुओं को स्वतंत्र मानते हैं और न ही पूर्णतः सत् कहते है। इसके साथ ही वस्तुओं को पूर्णतः परतन्त्र एवं पूर्णतः असत् भी नही मानते, बल्कि वे वस्तुओं के परस्पर निर्भर अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यही मध्यम मार्ग है, जो कि प्रतीत्य समुत्पाद का तार्किक परिणाम है।

इस प्रकार नागार्जुन शून्यता को अस्ति एवं नास्ति, भाव एवं अभाव, उद्‌भव एवं विनाश, नित्य एवं अनित्य आदि का निषेध करने वाला घोषित करते हुए दोनों प्रकार के अतियों के मध्य अद्वय का प्रतिपादन करते हैं।

9.5 चार कोटियों से अलग

नागार्जुन शून्य को सत्, असत्, उभय, अनुभव रुपी चारों कोटियों से अलग मानते हैं। शून्य सत् नहीं है क्योंकि सत् वह है जो किसी को उत्पन्न करे, किन्तु शून्यता में यह सम्भव नहीं है। शून्य असत् भी नही है क्योंकि असत् वह जो पहले सत् था किन्तु बाद में अर्थक्रिया कारित्व से रहित हो गया। तीसरी अवस्था प्रकाश एव अंधाकर की भॉति परस्पर विरुद्ध है। चौथी अवस्था न तो सत् और न ही असत् अचिन्तनीय है।

इस प्रकार शून्यता चारो कोटियों से अलग है जिसको समझने के लिए नागार्जुन प्रसंग विधि का प्रयोग करते हैं। इस विधि में सभी कोटियों या सिद्धान्तों का खण्डन हुआ है, अर्थात् यह स्वयं कोई दृष्टि नहीं है बल्कि सभी दृष्टियों का खण्डन है।

नागार्जुन के अनुसार सभी दृष्टियाँ आत्मविरोध से ग्रस्त है। अतः इसके खण्डन हेतु किसी पृथक मत की आवश्यकता नहीं है। नागार्जुन मानते हैं कि शून्यता अर्थ सभी दृष्टियों से मुक्त होना है किन्तु जो लोग शून्यता को एक दृष्टि स्वीकार करते हैं, वे असाध्य रोग से पीड़ित हैं। उल्लेखनीय है कि यहाँ दृष्टि का अर्थ किसी एक दार्शनिक मत को स्वीकार करना है। प्रसंग विधि के स्पष्टीकरण में प्रो0 संगमलाल पाण्डेय का मत उल्लेखनीय है कि– ''नागार्जुन की शून्यता मूलतः विवेक है जो सभी दृष्टियों एवं मतों का खण्डन है।'' इसे प्रसंग विधि कहा जाता है।

9.6 शून्य ही स्वतः सिद्ध

प्रसंग विधि पर न्याय दार्शनिकों एवं मीमांसको का कथन है कि हम ऐसी सत्ता को स्वीकार नही कर सकते, जिसके पक्ष में कोई प्रमाण न हो। इस पर नागार्जुन का स्पष्टीकरण है कि यदि शून्यता हेतु कोई प्रमाण चाहिए तो प्रश्न उठता है कि उस प्रमाण की सिद्धि कैसे की जा सकती है? अर्थात् प्रमाण की सिद्धि हेतु पुनः दूसरे प्रमाण को प्रस्तुत करना होगा और पुनः प्रमाण को प्रस्तुत करना होगा और यह श्रृंखला अनावस्था दोष से ग्रसित हो जायेगी। नागार्जुन के अनुसार प्रमेय के आधार पर शून्यता सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि प्रमेय अपनी सिद्धि हेतु स्वयं प्रमाण पर आधारित होता है। इस स्थिति में न्याय दार्शनिक कहते हैं कि 'स्वतः सिद्ध प्रमाण' से क्या शून्यता को सिद्ध किया जा सकता है? किन्तु नागार्जुन के अनुसार यदि हमें स्वतः सिद्ध मानना है तो शून्य को ही स्वतः सिद्ध मान लेना चाहिए। पुनः यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि शून्यता का ज्ञान कैसे होगा। इस क्रम में शून्यवादी दो प्रकार की सत्ताओं का उल्लेख करते है। प्रथम परमार्थ, द्वितीय–संवृत्ति (भ्रम)। इस आधार पर शून्यवादी चन्द्रकीर्ति संवृत्ति के दो प्रकार 'मिथ्या एवं तथ्य' का उल्लेख करते हैं। मिथ्या संवृत्ति व्यक्गित अज्ञान है जबकि तथ्य संवृत्ति समष्टिगत (जाग्रत दृष्टि) अज्ञान है।

परमार्थ ज्ञान की स्थिति है। इस विश्व को पृथक–पृथक रुप में देखे तो संवृत्ति है और समग्रता की दृष्टि से देखे तो यह प्रपंचात्मक है और समग्रता की दृष्टि से देखा जाय तो यही प्रपंचशून्य है। नागार्जुन इस संसार में या इसके पीछे किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते अर्थात शून्यवाद में शून्यता को किसी अस्तित्व के रुप में स्वीकार नहीं किया गया है।

9.7 प्रमुख आक्षेप

नागार्जुन के शून्य की तुलना आचार्य शंकर के ब्रह्म से की जाती है। माध्वाचार्य के अनुसार जो शून्य है वही ब्रह्म है। डॉ0 राधाकृष्णन नागार्जुन पर निरपेक्षवादी होने का आक्षेप करते है जबकि प्रो0 टी0आर0 पी0 मूर्ति शून्य की तुलना हेगल व ब्रेडले के निरपेक्ष से करते है।

यह आलोचना तर्कसंगत नही है। शंकराचार्य ब्रह्म को एक मात्र सत् मानते हैं जबकि नागार्जुन शून्यवादी व्याख्या में शून्य को सत् एवं असत् दोनों कोटियों से परे मानते है। नागार्जुन 'न उच्छिनम् न शाश्वतम्' कहकर शाश्वतवाद का विरोध ही नहीं करते बल्कि समस्त दृष्टियों का खण्डन भी करते हैं। पुनः हेगल व ब्रेडले बुद्धिवादी दार्शनिक हैं, जबकि नागार्जुन बुद्धि की कोटियों का निराकरण कर देते हैं।

शून्यवाद पर निषेधात्मक होने का आरोप भी लगाया जाता है। प्रो0 एस0एन0 दास गुप्ता शून्यता को 'ब्लैक फिनोमेनोलिज्म' एवं जापानी चिन्तक नाकामूरा 'नलक्लास' कहते है कि जबकि जैकोबी मानते हैं कि शून्यवादियों ने

हमारे समस्त प्रत्यय रिक्तता पर आधारित किए है। विज्ञानवादियों के अनुसार निरपेक्ष तत्व के अभाव में सापेक्ष तार्किक नहीं है। कुमारिल के अनुसार शून्यवादियों की संवृत्ति, मायावाद को आगे बढ़ाती है। इन आक्षेपों के क्रम में शंकराचार्य ब्रह्म सूत्र भाष्य में कहते है कि शून्यवादियों का पक्ष तो समस्त प्रमाणों के विरुद्ध है।

9.8 निष्कर्ष

उपर्युक्त विभिन्न आक्षेपों को पूर्व पक्ष में रखकर नागार्जुन स्वतः निराकरण करते हैं। उनके अनुसार शून्यवाद तत्व का निराकरण नहीं करता बल्कि शून्यता को समझने वाली विभिन्न दृष्टियों का निराकरण करता है। हम तर्कशास्त्र के नियमों को दोषरहित नहीं मान सकते। बुद्धिगम्यता विचार के नियम है जो कि तत्व की कोटियों से परे है। अतः शून्यता सभी दृष्टियों की समीक्षा है।

इस संदर्भ में नागार्जुन विग्रह त्यावर्तनी टीका में कहते है कि यदि कोई मेरी प्रतिज्ञा हो तो आप मुझे दोषी ठहरा सकते है किन्तु मेरी कोई दृष्टि नहीं है अतः मेरे में दोष ढूढ़ना व्यर्थ है। अतः नागार्जुन घोषित करते हैं कि शून्यता ही सर्व सर्वार्थ को उजागर करती है। जो शून्यता को समझ लेता है वह सबकुछ समझ लेता है।

9.9 बोध प्रश्न

1. शून्यवाद दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
2. शून्यवाद एवं वैभाषिक संप्रदायों के बीच मुख्य अंतर क्या हैं? उदाहरण सहित समझाइए।
3. शून्यवाद दर्शन में अजातिवाद की अवधारणा को समझाइए।
4. शून्यवाद दर्शन के अद्वयवाद सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
5. शून्यवाद में संवृत्ति एवं परमार्थ की व्याख्या कीजिए।

9.10 उपयोगी पुस्तकें

1. वसुबंधु. अभिधर्मकोश. अनुवादक प्रो. नरेंद्र देव, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, 1992.
2. देव, आचार्य नरेंद्र. बौद्ध दर्शन मीमांसा. राजकमल प्रकाशन, 2009.
3. सांकृत्यायन, राहुल. बौद्ध दर्शन. किताब महल, 2013.
4. हिरियन्ना, एम. भारतीय दर्शन की रूपरेखा. अनुवादक गोविंद चंद्र पांडे, राजकमल प्रकाशन, 2005.
5. बापट, पी.वी. बौद्ध धर्म दर्शन. नेशनल बुक ट्रस्ट, 2011.

इकाई–10

द्वन्द्वात्मक तर्क, शून्यता का स्वरुप

इकाई की रुपरेखा–

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 द्वन्द्व न्याय

10.4 शून्यता का स्वरुप

10.5 सारांश

10.6 बोध प्रश्न

10.7 उपयोगी पुस्तकें

10.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन एक गहन और जटिल दार्शनिक प्रणाली है, जो मानव जीवन, ब्रह्मांड और वास्तविकता के स्वरूप को समझने का प्रयास करती है। इसमें द्वंदात्मक तर्क और शून्यता की अवधारणाएं केंद्रीय भूमिका निभाती हैं। द्वंदात्मक तर्क एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विरोधाभासों को सुलझाकर सत्य तक पहुंचा जाता है। वहीं, शून्यता बौद्ध दर्शन की वह अवधारणा है जो सभी घटनाओं और वस्तुओं के स्वभाव को 'शून्य' यानी निरपेक्ष और निर्वैयक्तिक बताती है।

नागार्जुन, जो माध्यमिक दर्शन के संस्थापक माने जाते हैं, ने शून्यता को समझाने के लिए द्वंदात्मक तर्क का उपयोग किया। उनके अनुसार, शून्यता का अर्थ 'रिक्तता' या 'अभाव' नहीं है, बल्कि यह सभी घटनाओं की सापेक्षिक और निरपेक्ष प्रकृति को दर्शाती है। इस स्वाध्याय सामग्री के माध्यम से हम इन अवधारणाओं को विस्तार से समझेंगे।

10.2 उद्देश्य

इस स्वाध्याय सामग्री का उद्देश्य बौद्ध दर्शन के द्वंदात्मक तर्क (Dialectical Reasoning) और शून्यता (शून्यता) के स्वरूप को समझाना है। इसके माध्यम से छात्र निम्नलिखित बिंदुओं को सीखेंगे:

बौद्ध दर्शन में द्वंदात्मक तर्क की भूमिका और महत्व।

शून्यता की अवधारणा और इसका दार्शनिक आधार।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में शून्यता की व्याख्या।

द्वंदात्मक तर्क और शून्यता के बीच संबंध।

आधुनिक संदर्भ में इन अवधारणाओं की प्रासंगिकता।

10.3 द्वन्द्व न्याय

माध्यमिक के अनुसार बुद्धि की कोटियाँ जिन्हें दृष्टि, अन्त या विकल्प कहा जाता है, चार हैं जिनमें दो मुख्य हैं और दो गौण हैं। प्रथम सत् की कोटि है जो सत्व, भाव, विधान, नित्यता, द्रव्यता, अभेद, एकता की दृष्टि है। द्वितीय असत् की कोटि है जो असत्व, अभाव, निषेध, अनित्यता, भेद, पयार्य, अनेकता और परिवर्तन की दृष्टि है। तृतीय कोटि प्रथम और द्वितीय कोटियों को मिलाने से बनती है; यह सदसत् की कोटि है जिसके अनुसार सत् और असत् दोनों सत्य हैं। सत् ओर असत् का मिलन भी दो प्रकार का है, प्रथम संयोगात्मक, जिसमें सत् और असत् दोनों सत्य हैं और दोनों समान रुप से सत्य हैं दूसरा संयोगात्मक है, जिसमें दोनों अपृथक् रुप से समन्वित होते हैं, दोनों सत्य हैं पर समान रुप से नहीं वरन् असत् गौण है एवं सत् मुख्य हैं असत् सदा विशेषण बनकर सत् से अविभक्त है। चतुर्थ कोटि प्रथम और द्वितीय कोटियों के निषेध से बनती है और इसका रुप 'न सत्, न असत्, न उभय (नोभय) है। यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि माध्यमिक 'न सत् और न असत् तथा अद्वैत वेदान्त की अनिर्वचनीयता में अन्तर है। अनिर्वचनीयता की कोटि समस्त कोटियों का निषेध है, परन्तु चतुर्थ कोटि बुद्धि की एक कोटि है जो अज्ञानवाद, अज्ञेयवाद, संशयवाद एवं वितण्डावाद की दृष्टि है। माध्यमिक दर्शन प्रत्येक कोटि में अन्तर्विरोध दिखाकर उसका निषेध करता है। यह निषेध उच्च स्तर का है क्योंकि यह बुद्धि के सामर्थ्य–परीक्षण के बाद उसकी सीमा के ज्ञान से उत्पन्न होता है। नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति ने सांख्य एवं प्राचीन वेदान्त को प्रथम कोटि में रखा है, हीनयान को द्वितीय कोटि में, जैन को तृतीय कोटि और चार्वाक मत तथा संजयवेलपिट्ठपुत्त का अज्ञानवाद को चतुर्थ कोटि का माना है।

द्वन्द्वन्याय माध्यमिक दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। इस द्वन्द्व न्याय को समझे बिना हम माध्यमिकों के परम–तत्व 'शून्य' को नहीं समझ सकते। अतः शून्यता के लिए द्वन्द्व न्याय आवश्यक है। माध्यमिक के अनुसार शून्यता सभी दृष्टियों का अन्त है। बुद्धि ही विचारों को तार्किक रुप देकर सिद्धान्त का निर्माण करती है परन्तु बुद्धि सविकल्प है, सापेक्ष है। तत्व निर्विकल्प तथा निरपेक्ष है। सिद्धान्त शब्दों के द्वारा व्यक्त होते हैं, परन्तु तत्व अनिर्वचनीय है, तर्क जाल के परे है। प्रश्न यह है कि तत्व तर्क के परे कैसे सिद्ध किया जा सकता है? निर्विकल्प अनुभव के विषय को सविकल्प बुद्धि से कैसे समझ सकते हैं? उत्तर यह है कि जब तक हम सविकल्प बुद्धि के स्वरुप को नहीं जान लेते तब तक निर्विकल्प तत्व का बोध नहीं प्राप्त कर सकते। सविकल्प बुद्धि को जानना बुद्धि या ज्ञान की सीमाओं को जानना हैं। द्वन्द्व न्याय बुद्धि की सीमाओं का ज्ञान है। माध्यमिक कहते हैं कि जब हम बुद्धि के विकल्पों तथा सभी प्रकार के तार्किक रुपों से परिचित हो जाते हैं तो हमें बुद्धि के सभी विकल्पों तथा विभिन्न तार्किक वाक्यों में दोष भी दिखाई देने लगता है। इन दोषों को देखते ही हम बुद्धि और तर्क के सदोष मार्ग को छोड़कर निर्विकल्प अनुभव के निर्दोष मार्ग को ग्रहण करते हैं। यही तत्वानुभव का मार्ग है।

इस प्रकार द्वन्द्व न्याय का लक्ष्य द्वन्द्वातीत तत्व को बतलाना है। तत्व का यथार्थ स्वरुप सभी प्रकार के बौद्धिक द्वन्दों के परे है। तत्व तर्कगम्य नहीं है। सभी सिद्धान्त शब्द जाल हैं। वाग्जाल में पड़ी बुद्धि तत्व का बोध नहीं कर पाती। तत्व तो शून्य है जो अनिर्वचनीय है। इसका सम्बन्ध प्रज्ञा से है, बुद्धि से नहीं। इस प्रकार द्वन्द्व न्याय के तीन प्रमुख कार्य है–

1) दृष्टि या सिद्धान्त को उपस्थित करना।
2) सिद्वान्त की समीक्षा करना, दोष दिखलाना।
3) तत्व की निर्विकल्प अनुभूति (प्रज्ञा) का विषय स्थापित करना।

इस द्वन्द्व न्याय के अनुसार तत्व सम्बन्धी सभी सिद्वान्त केवल दृष्टि हैं; बौद्विक द्वन्द्वों की देन हैं। विशुद्व वाग्जाल होने के कारण सदोष है। निर्दोष, निर्विकल्प, निरपेक्ष अनुभव या प्रज्ञा से ही तत्वानुभव संभव है।

द्वन्द्वन्याय के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं– दृष्टि, तर्क और प्रज्ञा। दृष्टि साधारण ज्ञान या व्यावहारिक ज्ञान ही। यह तर्कशास्त्रीय, दार्शनिक या वैज्ञानिक ज्ञान है। परन्तु तत्व तर्कगम्य नहीं। यह स्वानुभूति या प्रज्ञा का विषय है। यह सर्वोच्च ज्ञान है। इसमें बुद्धि–विकल्प नहीं होते, अतः यह निर्विकल्प अनुभव कहलाता है। जब बुद्ध से जीव, जगत् आदि के बारे में तात्विक प्रश्न किए जाते थे तो वे मौन रह जाते थे। उनके मौन का यह अर्थ नहीं कि वे उन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते थे या उनके मौन का यह अर्थ भी नहीं कि जीव जगत् का सर्वथा अभाव है। इसका अर्थ है कि वस्तुतः तत्व का निर्णय सविकल्प बुद्धि से नहीं हो सकता। भाव, अभाव आदि बुद्धि के विकल्पों में निर्विकल्प तत्व को नहीं बतलाया जा सकता। ये प्रज्ञा के विषय हैं, तर्क के नहीं। माध्यमिक बौद्ध द्वन्द्व न्याय के द्वारा तत्व को तर्क या सविकल्प बुद्धि के परे निर्विकल्प अनुभव का विषय बताते हैं। माध्यमिकों के अनुसार हमारी तर्कबुद्धि या ज्ञान के चार विकल्प या कोटियाँ हैं– भाव, अभाव, उभय, नोभय। 'चतुष्कोटिक च महामते लोकव्यवहारः'' (लोकावतार)। परन्तु तत्व तो प्रज्ञा का विषय है इसे बुद्धि के विकल्पों के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। वे तार्किक कुत्तों के समान केवल लड़ते हैं।

श्वभूताः कुतार्किकाः............................तत्वं न पश्यन्ति तार्किकास्तर्कविभ्रमात्। (लंकावतार)

तर्क को काटने के लिए दूसरे तर्को का प्रयोग किया जाता है और इससे तर्क बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार विद्धान वैसे ही वाग्जाल में पड़ जाता है जैसे हाथी गहरे कीचड़ में फंस जाता है। अतः तर्क से तत्व का निर्णय नहीं हो सकता, प्रज्ञा के विषय को बुद्धि का विषय नहीं बनाया जा सकता। जो बुद्धि का विषय है, वह अनुभव का नहीं। बुद्धि का विषय मिथ्या है, प्रज्ञा का विषय सत्य है।

पुनः माध्यमिक विभिन्न दृष्टियों का खण्डन करते समय जिस विधि का अनुसरण करते हैं, उसे प्रसंग विधि कहते हैं। वह किसी दृष्टि को आधार मानकर चलने पर उससे जो निष्कर्ष निकलते हैं। उसके परस्पर व्याघातक रुप का प्रदर्शन करता है। माध्यमिक में तर्को के माध्यम से किसी दृष्टि की असंगति का प्रदर्शन करते हैं। यह प्रसंगापादन है। यहाँ प्रत्येक वाद द्वारा स्वतः उसका ही खण्डन किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि प्रसंग

एक ऐसी खण्डनात्मक विधि है जहाँ हम विरोधी के मत का खण्डन कर परोक्ष रुप से अपने सिद्वान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः यह शुद्ध और पूर्ण खण्डन है जहाँ किसी वाद को स्थापित करने का तनिक भी उद्देश्य नहीं। यह एक आध्यात्मिक संघर्ष है। माध्यमिक का स्वयं का कोई सिद्धान्त नहीं है। यह स्वतः किसी न्याय–वाक्य का निर्माण नहीं करता और न अपने तर्क तथा दृष्टान्त ही उपस्थित करता है। यद्यपि विश्व में योगाचार, वेदान्त और अन्य दर्शन हैं जो दूसरे के मतों का खण्डन करते हैं, परन्तु ये दर्शन अन्य मतो का खण्डन अपने मतों के प्रतिपादन हेतु करते हैं परन्तु केवल माध्यमिक दर्शन ही ऐसा है जहाँ द्वन्द्व न्याय साधन नहीं, वरन् स्वतः साध्य है। यहाँ समीक्षा ही दर्शन है।

10.4 शून्यता का स्वरुप

सामान्य भाषा में शून्य से 'अभाव' का बोध होता है, किन्तु माध्यमिक दर्शन में इस शब्द से सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक विशिष्ट अर्थ का भी बोध होता है। यह विशिष्ट अर्थ है तत्व। किसी वस्तु का वर्णन हम तर्क की भाषा में चार प्रकार से ही कर सकते है। वह 'है', या 'नही है' या है और नहीं है' या 'न तो है न तो नहीं है', किंतु तत्व के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त और अनभिलाप्य है।

न सन्नासन् न सदसन् न चाप्यनुभयात्कम्

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः।

यही तत्व के स्वभाव के विषय में भी लागू होती है। उसका वर्णन तर्क की किसी कोटि द्वारा नहीं किया जा सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर तत्व के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह सापेक्षता, प्रतीत्यसमुत्पाद या संसार है जिसमें तत्व (भूततथता) का अभाव है; और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यह तत्व निर्वाण है जहाँ नानात्व का अभाव है।

महासूत्रों में, विशेषतः अष्टसाहस्रिका एवं शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में प्राप्त शून्यता सम्बन्धी विचारों को सुसम्बद्ध करके तथा उन्हें अपने मौलिक विचारों और तर्को से पुष्ट करके शून्यवाद को दार्शनिक सम्प्रदाय के रुप में सर्वप्रथम आचार्य नागार्जुन ने प्रतिष्ठित किया। शून्यवादी स्वंय को माध्यमिक या बुद्ध के मध्यममार्ग का अनुयायी कहते हैं। 'शून्य' और 'मध्यम मार्ग' इन शब्दों का अर्थ न जानने से अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। 'शून्य' का प्रचलित अर्थ अभाव, असत् या सर्वनिषेध है और इस प्रचलित अर्थ को लेकर अनेक विद्वान प्राचीन तथा अर्वाचीन, पौरस्त्य तथा पाश्चात्य, शून्यवाद को सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध, असत्, नास्तिकवाद सिद्ध करने के मिथ्या और व्यर्थ प्रयास में कटिबद्ध हुए हैं। माध्यमिक दर्शन ने शून्य को वस्तुतः एक विशेष अर्थ में लिया। 'शून्य' एक दुधारी तलवार है। इसके दो रुप हैं। यह तत्व भी है और माया भी, यह सत्य भी है और मिथ्या भी; यह संसार भी है और निर्वाण भी, यह व्यवहार भी है और परमार्थ भी। व्यवहार में 'शून्य' का अर्थ है 'स्वभाव शून्य' और परमार्थ में 'शून्य' का अर्थ है प्रपंन्च शून्य। स्वभाव का अर्थ है और स्व–भाव अर्थात् अपनी निजी स्वतंत्रता से शून्य अर्थात्

रहित; स्वभाव शून्य उसे कहते हैं जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता न हो, जो परतन्त्र हो, जो किसी अन्य सत्ता के कारण सत् रुप में प्रतीत होता है। सत्, सत्ता, स्वभाव ये शब्द त्रिकालाबाध सत्ता के सूचक हैं; और इनके विपरीत असत्, असत्ता, अभाव ये शब्द नितान्त असत् के सूचक है जो शशश्रृंगवत् है और जिसकी त्रिकाल में कभी 'प्रतीति' नहीं होती। संसार के सभी पदार्थ न सत् और न असत् हैं, अतः वे सदसदनिर्वचनीय हैं, मिथ्या हैं, प्रतीतिमात्र हैं। संसार को 'स्वभावशून्य' कहने का यही अर्थ है कि संसार के समस्त पदार्थ अविद्या जन्य हैं; बुद्धि–विकल्प जन्य हैं; परतंत्र हैं; सापेक्ष हैं, प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। यह स्वभाव सदा निर्विकार, निर्विकल्प, निरपेक्ष परम तत्व है, जहाँ अविद्या, समस्त बुद्धि–विकल्प, कोटियाँ, दृष्टियाँ, विकार, उपेक्षा आदि समस्त 'प्रपच्च' शान्त हो जाता है, अतः पारमार्थिक दृष्टि से तत्व को 'प्रपन्च–शून्य' कहा जाता है। इस प्रकार संसार और निर्वाण में, व्यवहार एवं परमार्थ में दिखने वाला भेद भी अविद्याजन्य होने से व्यवहार तक सीमित है; परमार्थ अद्वैत है, वहाँ संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नही है। निर्वाण रुपी परमार्थ एवं संसार रुपी व्यवहार दोनों ही चतुष्कोटिविनिर्मुक्त हैं। यहाँ विनिर्मुक्त का अर्थ है– अतीत और पारगामी। संसार के पदार्थ बुद्धि–विकल्पजन्य हैं, अविद्या–प्रसूत हैं, बुद्धि की प्रत्येक कोटि या दृष्टि एक–एक मत को जन्म देती है और इन सब मतों में अन्तर्विरोध का आना अनिवार्य है। अतः सांसारिक पदार्थो का वास्तविक स्वरुप बुद्धि की कोटियों द्वारा अगम्य होने के कारण 'कोटिविनिर्मुक्त' ही है। अतः तत्व सत्य है एवं संसार अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है।

यहाँ ध्यान रखना है कि यद्यपि जगत् को माध्यमिक दार्शनिकों ने अलातचक्र, स्वप्न, माया, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि और मृगतृष्णा के रुप में वर्णित किया है

अलातचक्र निर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः

धूमिकान्तः प्रतिश्रुत्कामरीच्य भ्रमैः समो भवः।

(चतुःशतक कारिक)

तथापि उन वर्णनों का तात्पर्य पूर्ण अभाव नहीं है। उनका मंतव्य केवल यह है कि संसार की वस्तुएं पूर्ण रुप से सत् नहीं है क्योंकि यदि यह कहें कि संसार भ्रममात्र है तब भी यह प्रश्न बना रहता है कि उस भ्रम का आधार क्या है? आखिर भ्रमजन्य सर्प का आधार भी भावमूलक रज्जु है। अतः पूर्ण अभाव असम्भव है। नागार्जुन अनुभवमूलक जगत् के अधिष्ठान के रुप में एक ऐसे तत्व के अस्तित्व में विश्वास करते है जो शून्य नहीं, प्रत्युत अपर, प्रत्यय, शान्त, प्रपंच्चातीत, निर्विकल्प और अनानार्थ है।

अपरं प्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितम्।

निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्वस्य लक्षणम्।।

(माध्यमिकारिका)

इस तत्व को नागार्जुन ने परमार्थ शब्द से अभिहित किया है। यह वह तत्व है जिसकी देशना (उपदेश) शब्दों में सम्भव नहीं है, जिसे सत्, असत्, सद्सत् या सद्सद्भिन्न कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः शून्यवादियों के दृष्टिकोण से परमार्थ शून्य है। इसलिए नहीं कि यह शून्य है बल्कि इसलिए कि व्यवहार के लिए प्रयुक्त कोई भी कोटि इसके लिए पर्याप्त नहीं है। इसे सत् कहना गलत होगा क्योंकि सत् मानने से यह उत्पत्ति, विनाश और मृत्यु का विषय हो जाएगा। संयार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इनसे परे हो। यह असत् भी नहीं है क्योंकि यह अनुभव में है तथा सद्सत व्याघातक है।

प्रश्न उठता है कि यदि तत्व अनिर्वचनीय या अनक्षर है तो उसका ज्ञान और उपदेश कैसे सम्भव है?

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।

श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः।।

(मूलमाध्यमिकारिका)

नागार्जुन के अनुसार तत्व का बोध अध्यारोपवाद विधि द्वारा होता है। व्यवहार का जो रुप हमने तत्व पर आरोपित कर रखा है, सम्यक् ज्ञान द्वारा उसे दूर करके हमें उसके स्वरुप का बोध होता है।

नागार्जुन के तत्व संबंधी उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है, वह उस अर्थ में शून्य नहीं है जिस अर्थ में सामान्य दैनिक जीवन में प्रयुक्त होता है। परन्तु अज्ञान और पक्षपात के कारण बहुत से विद्वानों ने उनके दर्शन को ठीक से नहीं समझा और उसे पूर्ण रुप से अभाववादी या शून्य ही समझा। इस दृष्टिकोण से विद्वानों ने शून्यवाद की बहुत आलोचना भी की कि यदि सब कुछ शून्य है, यदि उत्पत्ति और विरोध जैसी कोई चीज नहीं है तो फिर चार आर्य सत्य भी असत् होंगे, असत् होने पर अर्हत्त्व की चार अवस्थाएँ भी असम्भव होंगी और इनके अभाव में कोई भी व्यक्ति इनकी प्राप्ति का प्रयास नहीं करेगा। इसी प्रकार यदि व्यक्ति (पुदगल) नहीं हो तो फिर संघ किसका होगा। पुनः चार आर्य सत्यों के अभाव में संघ का भी अभाव होगा और धर्म एवं संघ के अभाव में बुद्ध का अस्तित्व भी असंभव होगा। अतः जो लोग शून्य का प्रतिपादन करते है वे त्रिरत्न का ही विरोध करते हैं।

माध्यमिकों के अनुसार ये सभी आपत्तियाँ निराधार है। वस्तुतः ये सभी आपत्तियाँ शून्यता के अभाव में उठती हैं। यदि यह मान लें कि पदार्थ नित्य हैं तो फिर कार्य, कारण, कर्ता, करण आदि की कोई आवश्यकता नहीं। फिर लोक व्यवहार भी असम्भव हो जाएगा। यदि सब पदार्थ नित्य हैं तो दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध एवं दुःख निरोधमार्ग कुछ भी संभव नहीं। फिर कर्म और फल के अभाव में पदुगल् का भी अभाव होगा, पुदगल् के अभाव में संघ का भी अभाव होगा। चार आर्य सत्यों के अभाव में धर्म का भी अभाव होगा और धर्म तथा संघ के अभाव में बुद्ध का भी अस्तित्व नहीं होगा। अतः संसार को नित्य मानने के स्थान पर उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न मानना होगा। अतः शून्यता के सम्यक् बोध होने पर ही चार आर्य सत्य संभव होंगें।

10.5 सारांश

द्वंदात्मक तर्क का स्वरूप

द्वंदात्मक तर्क एक ऐसी विधि है जिसमें विरोधाभासी विचारों को सामने रखकर उनके माध्यम से सत्य तक पहुंचा जाता है।

बौद्ध दर्शन में इसका उपयोग अस्तित्व, अनात्म (अनात्मन), और शून्यता जैसी अवधारणाओं को समझाने के लिए किया गया है।

नागार्जुन ने अपने ग्रंथ 'मूलमध्यमककारिका' में द्वंदात्मक तर्क का उपयोग करते हुए शून्यता को समझाया।

शून्यता की अवधारणा

शून्यता का अर्थ है कि सभी वस्तुएं और घटनाएं स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में नहीं हैं, बल्कि वे परस्पर निर्भर और सापेक्षिक हैं।

यह अवधारणा 'प्रतीत्यसमुत्पाद' (Dependent Origination) पर आधारित है, जो बताती है कि सभी घटनाएं कारण और परिणाम के संबंध में उत्पन्न होती हैं।

शून्यता को समझने के लिए नागार्जुन ने 'चतुष्कोटि' (Tetralemm) का उपयोग किया, जो चार संभावनाओं (अस्ति, नास्ति, अस्ति च नास्ति, नैवास्ति न नास्ति) को प्रस्तुत करता है।

द्वंदात्मक तर्क और शून्यता का संबंध

द्वंदात्मक तर्क शून्यता को समझने का एक साधन है। यह विरोधाभासों को सुलझाकर वास्तविकता के स्वरूप को प्रकट करता है।

नागार्जुन के अनुसार, शून्यता ही वास्तविकता का अंतिम स्वरूप है, और इसे केवल द्वंदात्मक तर्क के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता

बौद्ध दर्शन की ये अवधारणाएं आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र में भी प्रासंगिक हैं।

शून्यता की अवधारणा क्वांटम भौतिकी और अस्तित्ववादी दर्शन के साथ तुलनीय है।

बौद्ध दर्शन के द्वंदात्मक तर्क और शून्यता की अवधारणाएं मानव जीवन और ब्रह्मांड के स्वरूप को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन ने इन अवधारणाओं को एक नया आयाम दिया, जो आज भी प्रासंगिक है। इस स्वाध्याय सामग्री के माध्यम से छात्र इन गहन दार्शनिक विचारों को समझ सकेंगे और उनकी आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.6 बोध प्रश्न

1. द्वंदात्मक तर्क क्या है? बौद्ध दर्शन में इसकी क्या भूमिका है?
2. शून्यता की अवधारणा को समझाइए। यह प्रतीत्यसमुत्पाद से कैसे संबंधित है?
3. नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में शून्यता की व्याख्या कैसे की गई है?

4. द्वंद्वात्मक तर्क और शून्यता के बीच क्या संबंध है?
5. शून्यता की अवधारणा का आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में क्या महत्व है?

10.7 उपयोगी पुस्तकें

1. वसुबंधु. अभिधर्मकोश. अनुवादक प्रो. नरेंद्र देव, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, 1992.
2. देव, आचार्य नरेंद्र. बौद्ध दर्शन मीमांसा. राजकमल प्रकाशन, 2009.
3. सांकृत्यायन, राहुल. बौद्ध दर्शन. किताब महल, 2013.
4. हिरियन्ना, एम. भारतीय दर्शन की रूपरेखा. अनुवादक गोविंद चंद्र पांडे, राजकमल प्रकाशन, 2005.
5. बापट, पी.वी. बौद्ध धर्म दर्शन. नेशनल बुक ट्रस्ट, 2011.

इकाई–11

अजातिवाद, निर्वाण

इकाई की रूपरेखा–

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 आचार्य नागार्जुन की 'मूलमाध्यमिक कारिका

11.3 संवृत्ति और परमार्थ

11.4 निष्कर्ष

11.5 सारांश

11.6 प्रश्न बोध

11.7 उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

इस स्वअध्ययन सामग्री का उद्देश्य बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख सिद्धांतों अज़ातिवाद और निर्वाण को गहराई से समझाना है। यह सामग्री छात्रों को इन सिद्धांतों के दार्शनिक आधार, उनकी व्याख्या, और उनके जीवन में प्रयोग की समझ प्रदान करेगी। साथ ही, यह बौद्ध दर्शन के अन्य सिद्धांतों के साथ इनके संबंध को भी स्पष्ट करेगी।

11.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन भारतीय दार्शनिक परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसने न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व को प्रभावित किया है। गौतम बुद्ध ने जीवन, दुख, और मोक्ष के प्रश्नों पर गहन चिंतन किया और उन्होंने अपने सिद्धांतों के माध्यम से मानव जीवन के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इनमें से दो प्रमुख सिद्धांत हैंकृ अज़ातिवाद और निर्वाण।

अज़ातिवाद बौद्ध दर्शन का वह सिद्धांत है जो आत्मा की स्थायित्व को नकारता है और यह बताता है कि सभी वस्तुएं अनित्य (अनश्वर) और अनात्म (आत्मारहित) हैं। दूसरी ओर, निर्वाण बौद्ध दर्शन का अंतिम लक्ष्य है, जो दुखों से मुक्ति और शांति की स्थिति को दर्शाता है।

इस सामग्री में हम इन दोनों सिद्धांतों का विस्तृत अध्ययन करेंगे और उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक पहलुओं को समझेंगे।

11.2 आचार्य नागार्जुन की 'मूलमाध्यमिक कारिका' और उस पर चन्द्रकीर्ति की 'प्रसन्नपरावृत्ति' माध्यमिक दर्शन के स्वरुप को सही रुप में प्रकाशित करती है। नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति के द्वन्द्वात्मक तर्क के तीव्र प्रहारों के आगे सारे बुद्धिग्राह्य पदार्थ अपनी धज्जियाँ उड़ाते हुए खण्ड–खण्ड होकर ढह जाते हैं। उनकी नितान्त सूक्ष्म तर्क पद्धति के आगे बुद्धि की समस्त धारणाएं तथा जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ स्वभाव शून्य और मिथ्या प्रतीत होते हैं। नागार्जुन अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में ही अष्ट निषेध प्रस्तुत करते हैं– (पारमार्थिक दृष्टि से) 1. न निरोध है 2. न उत्पत्ति है 3. न अनित्य है 4. न नित्य 5. न एक है 6. न अनेक 7. न आना है 8. न जाना है–

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।

अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।

(माध्यामिककारिका)

यही माध्यमिक का अजातिवाद है। इसके अगले पद्य में वे प्रपच्चोपशम और शिव प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा भगवान् बुद्ध की वन्दना करते हैं–

यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंञचोपशमं शिवम्।

देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्।।

(माध्यामिककारिका)

अगले मंगलाचरण के ही दोनों श्लोकों में आचार्य नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों रुपों को प्रकट करते हैं। पारमार्थिक रुप से प्रतीत्यसमुत्पाद आठ निषेधात्मक विशेषणों से विशिष्ट आजातिवाद है जहाँ समस्त प्रपंचों का उपशम हो जाता है। यहाँ न उत्पाद है, न निरोध है, न नित्य है (शाश्वत), न अनित्य (उच्छेद), न एक है, न अनेक है, न आगमन है, न निगमन है, ये आठों ही प्रपंच के अन्तर्गत आते हैं जिनका पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद विलय हो जाता है। किंतु पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंच निषेधमात्र नहीं है, वह प्रपच्च शून्य तत्व है वह शिव है, वह अखण्ड आनन्दरुप निर्वाण है। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कार्यकारणवाद नहीं है क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुतः अनुत्पाद है।

प्रतीत्य यत् समुत्पन्नं नोत्पन्नं परमार्थतः।

यहाँ संवृत्ति, व्यवहार, प्रतीति, अविद्या, और उपादान आदि प्रपंच का सर्वथा विलय है। प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यावहारिक रुप अविद्याजन्य जन्म–मरण चक्र, उत्पाद–निरोध आदि प्रपन्च है। किंतु यह कारण–कार्य भाव सापेक्ष है, बुद्धि विकल्पजन्य है, अविद्या–प्रसूत है, अतः इसकी सत्यता प्रातीतिक या व्यावहारिक है। परमार्थ निरपेक्ष अद्वैत तत्व है। नागार्जुन ने 'अजातिवाद' के उद्घोष से सर्वप्रथम 'तात्विक कारणकार्यवाद' का खण्डन अपने ग्रन्थारम्भ में ही किया है– कोई भी पदार्थ कभी, कहीं और कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता; कोई पदार्थ अपने आप (स्वतः)

उत्पन्न नहीं हो सकता; न दूसरे के कारण (परतः), न अपने और दूसरे दोनों के कारण (द्वाभ्याम्) और न बिना कारण (अहेतुः) उत्पन्न ही सकता है।

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।

(माध्यमिककारिका)

स्वतः उत्पन्न होने का अर्थ है कि कार्य उत्पत्ति–पूर्व ही कारण में विद्यमान है (सत्कार्यवाद) और यदि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान है तो वह कार्य पहले ही उत्पन्न है जिसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ है। कोई पदार्थ 'परतः' भी नहीं उत्पन्न हो सकता। परतः उत्पाद का अर्थ है कि कार्य अपने कारण में उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नहीं रहता; कार्य एक नवीन सृष्टि है और उत्पत्ति से ही उसकी सत्ता का आरम्भ होता है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् है (असत्कार्यवाद) तो वह बन्ध्यापुत्र और शशश्रृंग के समान असत् हो जाएगा और तब वह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। स्वतः और परतः दोनों द्वारा उत्पत्ति मानना युक्तिविरुद्ध है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान दो परस्पर विरुद्ध धर्म एक स्थान पर नहीं रह सकते। अहेतुक उत्पाद असम्भव है क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य और कारण में अभेद है क्योंकि कारण ही कार्य के रुप में अभिव्यक्त होता है। यदि कार्य सत् है तो उत्पत्ति व्यर्थ है। पुनश्च, कारण और कार्य अभिन्न है तो कारण कार्य के रुप में स्वयं को ही बार–बार उत्पन्न करता रहता है। इसी प्रकार असत्कार्यवाद में भी अनेक दोष हैं। यदि कारण और कार्य नितान्त भिन्न है तो कोई भी कारण किसी भी कार्य को उत्पन्न करेगा। पुनः यदि कार्य असत् है तो उसकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। सद्सत्कार्यवाद में सत्कार्यवाद एवं असत्यकार्यवाद दोनों दोष मिलेंगे एवं अहेतुक उत्पाद तो कारणकार्यभाव का ही निषेध है। अतः जाति या उत्पत्ति असम्भव है एवं उत्पति के अभाव में निरोध भी असम्भव है। यही अजातिवाद है।

11.3 संवृत्ति और परमार्थ–

माध्यमिक दर्शन मूलतः दो सत्यों के सिद्धान्त पर टिका है– संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। जो इस विभाजन को नहीं जानते, वे भगवान बुद्ध के गम्भीर दर्शन का तात्पर्य कदापि नहीं समझ सकते। संवृत्ति अज्ञान है जो आवरण एवं विक्षेप दोनों है; यह तत्व के वास्तविक स्वरुप को आवृत्त कर देती है एवं उनकी अन्यथा प्रतीति कराती है। संवृत्ति सापेक्ष कारण कार्यभाव है। संवृत्ति प्रज्ञप्ति है, संकेत है, लोक व्यवहार है। संवृत्ति बुद्धि विकल्पों द्वारा कार्य करती है, अतः बुद्धि को ही संवृत्ति कहा जाता है। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति शब्द के तीन अर्थ बताए हैं–

1) वह जो वस्तुओं के वास्तविक स्वरुप को चारो ओर से आवृत्त किए है। चन्द्रकीर्ति ने इसे 'अज्ञान' की संज्ञा प्रदान की है।

2) यह वस्तुओं का अन्योन्याश्रितत्व या सापेक्षता है। इस अर्थ में यह ऐन्द्रिक जगत् या प्रपन्च का पयार्यवाची है।

3) परम्परा से सामान्य जन जिसे मानते आए हैं।

संवृत्ति के ये तीनों अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रथम मुख्य अर्थ है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन सभी अर्थो का महत्व है। वस्तुतः संवृत्ति मानव बुद्धि की कृति है। यही जगत् एवं उसकी घटनाओं का कारण है। शाब्दिक रुप से संवृत्ति का अर्थ आवरण है जो हमसे सत्य को आवृत्त किए है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह स्वतः सिद्ध है। स्वप्न देखने वाला व्यक्ति अपने स्वप्न को किसी प्रकार भी किसी भी तर्क द्वारा असत्य नहीं सिद्ध कर सकता क्योंकि ये तर्क उतने ही असत्य है जितनी कि वह वस्तु जिसकी सत्यता या असत्यता वे सिद्ध कर रहे हैं। स्वप्नगत वस्तु की असत्यता हम जागने पर ही सिद्ध कर सकते हैं। यही बात संवृत्ति पर भी लागू होती है। इसकी असत्यता का ज्ञान परमार्थ के साक्षात्कार अर्थात् निर्वाण की अवस्था में ही होगा।

चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति को दो भागों में विभक्त किया है–

1) लोक संवृत्ति– इससे इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय वस्तुओं का बोध होता है। यह स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति का ऐन्द्रिक ज्ञान है। संसार की वस्तुएं मेज, कुर्सी आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

2) मिथ्या संवृत्ति– यह वेदान्त दर्शन के प्रतिभास के समान हैं। इसके अन्तर्गत भ्रम एवं स्वप्न आदि आते हैं। जैसे, मृगमरीचिका, द्विचन्द्र, अलातचक्र और रज्जु–जन्य सर्प आदि। संवृत्ति में अवस्था–भेद के लिए स्थान है। सांवृत्तिक अनुभवों में एक क्रमबद्ध श्रृंखला भी हो सकती है। स्वप्न की वस्तुओं को सामान्यजन भी भ्रमजन्य मानते हैं। योगी या दार्शनिक को जागृत अवस्था की चिरस्थायी और मोहक प्रतीत होने वाली वस्तुएं भी क्षणिक और सारहीन प्रतीत हो सकती है, क्योंकि उसकी दृष्टि सामान्य दृष्टि से उच्चतर है।

संवृत्ति को व्यवहारतः सत्य कहा जाता है। वस्तुतः सत्य तो परमार्थ ही है। परमार्थ उस तत्व का ज्ञान है जिसमें किसी प्रकार के वर्णन के लिए स्थान नही है।

यः पुनः परमार्थ सोऽनभिलाप्यः, अनाज्ञेयः, अदेशितः, अपरिज्ञेयः, अप्रशितः– पितापुत्र समागम

(बोधिचर्यावतार)

यह अनभिलाप्य, अचिन्त्य एवं अदेशनीय है। इसकी शिक्षा सम्भव नहीं है

कुतस्तत्र परमार्थे वाचां प्रवृत्तिः कुतो वा ज्ञानस्य।

(माध्यमिक कारिकावृत्ति)

यह अनुभवमूलक अवधारणाओं या विशेषणों से शून्य है। यह आर्यजनों की अन्तःप्रज्ञा का विषय है। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन्हीं दो वस्तुओं के आधार पर भिन्न हो सकता है। चूँकि परमार्थ में इन दोनों का ही अभाव है,

अतः यह अद्वितीय एवं निर्विशेष स्वभाव का है। इसलिए इसे तथता, भूतकोटि, धर्मता, धर्मधातु और शून्यता आदि विविध संज्ञाए प्रदान की गयी हैं।

यद्यपि नागार्जुन ने संवृत्ति और परमार्थ इन दो सत्यों का प्रतिपादन किया है, परन्तु ये दोनों सत्य परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। बिना संवृत्ति के परमार्थ का ज्ञान असम्भव है। यद्यपि संवृत्ति प्रतीति है, फिर भी यह एक प्रकार का तत्व है। यह उस तत्व में प्रतिष्ठित है जो साक्षात् ब्रहम है और जहाँ सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों का शमन हो जाता है। इस जगत् के वास्तविक स्वरुप का ज्ञान केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही हो सकता है; किंतु व्यावहारिक या बौद्धिक दृष्टिकोण पूर्णरुप से त्याज्य नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से बुद्ध, बोधिसत्व, धर्म, नैतिकता, सिद्धान्त, सत्य, निर्वाण आदि सभी धर्मों का अस्तित्व है। हमें निरपेक्ष की प्राप्ति सापेक्ष का निषेध करके नहीं प्रत्युत सापेक्ष की सहायता से सापेक्ष को पार करने पर होगी। उदाहरण के लिए यदि कोई जहाज समुद्र में डूबने लगे तो जो लोग लकड़ी के किसी टुकड़े, लट्ठे या शव का भी सहारा लेंगे वे समुद्र पार कर लेंगे और जो ऐसा नही करेंगे, उनका समुद्र में डूबना निश्चित है इसी प्रकार जो सद्धर्म, बौद्धिक आस्था और षड्पारमिताओं का सहारा लेंगे, भले ही ये व्यावहारिक रुप से सत्य हों, अन्ततोगत्वा उस तत्व को प्राप्त कर लेंगे जो निर्वाण का सुरक्षित, अमृत एवं सुखद पद है, किंतु जो इनको स्वीकार नहीं करेंगे, वे निश्चित ही डूब जाऐंगे। जिस प्रकार कोई वृद्ध व्यक्ति अपनी शक्ति से खड़ा नहीं हो सकता परंतु अपने मित्रों की सहायता से गंतव्य तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार लोग अपनी बुद्धि से परम सत्य को भले ही न प्राप्त कर सकें, किन्तु षड्पारिमता रुपी मित्रों की सहायता से तत्व का दर्शन अवश्य कर सकते हैं। वस्तुतः संवृत्ति और परमार्थ का भेद भी सांवृत्त है, तात्विक नहीं। संवृत्ति और परमार्थ 'दो' सत्य नहीं हैं। सत्य तो केवल परमार्थ है। संवृत्ति को लोक–व्यवहार के लिए सत्य मान लिया जाता है। वस्तुतः वह सत्य नहीं है। किन्तु संवृत्ति का बाध परमार्थ का साक्षात्कार होने पर ही सम्भव है, उससे पहले नहीं।

11.4 निष्कर्ष

इस स्वअध्ययन सामग्री के माध्यम से छात्र बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख सिद्धांतों अज़ातिवाद और निर्वाण को गहराई से समझ सकेंगे और उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक पहलुओं को आत्मसात कर सकेंगे।

11.5 सारांश

अज़ातिवाद :

अज़ातिवाद बौद्ध दर्शन का वह सिद्धांत है जो आत्मा की स्थायित्व को नकारता है।

यह सिद्धांत अनित्य (अनश्वर) और अनात्म (आत्मारहित) के सिद्धांत पर आधारित है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार, सभी वस्तुएं पंचस्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान) से मिलकर बनी हैं, जो निरंतर परिवर्तनशील हैं।

अज़ातिवाद का उद्देश्य व्यक्ति को आत्मा के भ्रम से मुक्त करना और वास्तविकता को समझना है।

निर्वाणः

निर्वाण बौद्ध दर्शन का अंतिम लक्ष्य है, जो दुखों से मुक्ति और शांति की स्थिति को दर्शाता है।

यह तृष्णा (इच्छा) और अविद्या (अज्ञान) के समाप्त होने पर प्राप्त होता है।

निर्वाण को नकारात्मक रूप में "दुखों का अंत" और सकारात्मक रूप में "शांति और आनंद की स्थिति" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

यह जीवन और मृत्यु के चक्र (संसार) से मुक्ति का प्रतीक है।

विस्तृत विवरण

1. अज़ातिवाद

बौद्ध दर्शन में अज़ातिवाद का सिद्धांत आत्मा की स्थायित्व को नकारता है। यह सिद्धांत बुद्ध के अनित्य (अनश्वर) और अनात्म (आत्मारहित) के सिद्धांत पर आधारित है।

अनित्य (अनश्वर):

बौद्ध दर्शन के अनुसार, संसार में सभी वस्तुएं निरंतर परिवर्तनशील हैं। कुछ भी स्थायी नहीं है, और सभी वस्तुएं उत्पत्ति, स्थिति, और लय के नियम के अधीन हैं।

अनात्म (आत्मारहित):

बौद्ध दर्शन आत्मा की स्थायित्व को नकारता है। यह मानता है कि व्यक्ति का अस्तित्व पंचस्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान) से मिलकर बना है, जो निरंतर परिवर्तनशील हैं। इन स्कंधों के अलावा कोई स्थायी आत्मा नहीं है।

पंचस्कंधः

रूपः शारीरिक अस्तित्व।

वेदनाः संवेदनाएं और अनुभूतियाँ।

संज्ञाः धारणाएं और विचार।

संस्कारः मानसिक संस्कार और प्रवृत्तियाँ।

विज्ञानः चेतना।

अज़ातिवाद का महत्वः

अज़ातिवाद का उद्देश्य व्यक्ति को आत्मा के भ्रम से मुक्त करना और वास्तविकता को समझना है। यह सिद्धांत व्यक्ति को यह समझने में मदद करता है कि सभी वस्तुएं अनित्य और अनात्म हैं, और इसलिए उनसे मोह और लगाव व्यर्थ है।

2. निर्वाण

निर्वाण बौद्ध दर्शन का अंतिम लक्ष्य है, जो दुखों से मुक्ति और शांति की स्थिति को दर्शाता है।

निर्वाण की परिभाषाः

निर्वाण को नकारात्मक रूप में "दुखों का अंत" और सकारात्मक रूप में "शांति और आनंद की स्थिति" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह तृष्णा (इच्छा) और अविद्या (अज्ञान) के समाप्त होने पर प्राप्त होता है।

निर्वाण के प्रकारः

सोपाधिशेष निर्वाणः जीवित अवस्था में प्राप्त निर्वाण।

निरुपाधिशेष निर्वाणः मृत्यु के बाद प्राप्त निर्वाण।

निर्वाण की प्राप्तिः

निर्वाण की प्राप्ति के लिए बौद्ध दर्शन अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने का सुझाव देता है। यह मार्ग आठ सिद्धांतों पर आधारित हैः सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् समाधि।

निर्वाण का महत्वः

निर्वाण जीवन और मृत्यु के चक्र (संसार) से मुक्ति का प्रतीक है। यह व्यक्ति को दुखों से मुक्ति और शांति की स्थिति प्रदान करता है।

11.6 बोध प्रश्न

अज़ातिवाद का क्या अर्थ है? यह बौद्ध दर्शन में क्यों महत्वपूर्ण है?

पंचस्कंध क्या हैं? इनका अज़ातिवाद से क्या संबंध है?

निर्वाण की परिभाषा दें और इसके प्रकारों को समझाएं।

निर्वाण की प्राप्ति के लिए बौद्ध दर्शन कौन–सा मार्ग सुझाता है?

अज़ातिवाद और निर्वाण के बीच क्या संबंध है?

11.7 उपयोगी पुस्तकें

"बौद्ध दर्शन का इतिहास" – डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार

"बौद्ध दर्शनः एक परिचय" – डॉ. एन.एस.एस. रमण

"The Central Philosophy of Buddhism" & T-R-V- Murti

"बौद्ध धर्म और दर्शन" – डॉ. रामशरण शर्मा

"निर्वाणः बौद्ध दर्शन की अंतिम स्थिति" – डॉ. एस.एन. दासगुप्ता

MAPH-112 (N)
बौद्ध दर्शन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–4 योगाचार या विज्ञानवाद दर्शन

इकाई–12 वस्तुवाद का खण्डन एवं विज्ञानवाद का मण्डन	**113**
इकाई–13 विज्ञान परिणाम : आलय विज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान	**135**
इकाई–14 त्रिस्वभाव एवं निर्वाण	**146**

खंड – 04 (योगाचार विज्ञानवाद)

खंड परिचय

योगाचार विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो मन और चेतना की प्रकृति पर गहन चिंतन करती है। इस दर्शन में तिरस्वभाव और निर्वाण की अवधारणाएँ केंद्रीय स्थान रखती हैं। यह खंड इन दोनों सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है, जो छात्रों को बौद्ध दर्शन की इस जटिल शाखा को समझने में मदद करेगा।

त्रिस्वभाव सिद्धांत योगाचार दर्शन का मूल आधार है, जो वास्तविकता के तीन स्तरों या श्स्वभावोंश की व्याख्या करता है। ये तीन स्वभाव हैं – परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न। यह सिद्धांत न केवल वास्तविकता की प्रकृति को समझाता है, बल्कि यह भी बताता है कि कैसे हमारा मन इस वास्तविकता को अनुभव और निर्मित करता है।

निर्वाण, जो बौद्ध धर्म का परम लक्ष्य है, योगाचार दर्शन में विशेष महत्व रखता है। यहाँ निर्वाण को केवल दुःख के अंत के रूप में नहीं, बल्कि चेतना की एक विशिष्ट अवस्था के रूप में देखा जाता है, जहाँ वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

इस खंड में हम त्रिस्वभाव के प्रत्येक पहलू का गहन अध्ययन करेंगे, उनके बीच के संबंधों को समझेंगे और देखेंगे कि कैसे ये निर्वाण की अवधारणा से जुड़े हुए हैं। हम यह भी जानेंगे कि कैसे योगाचार विद्वानों ने इन सिद्धांतों का उपयोग मानव अनुभव और मुक्ति के मार्ग की व्याख्या करने के लिए किया।

त्रिस्वभाव सिद्धांत की चर्चा से शुरू करते हुए, हम परिकल्पित स्वभाव का अध्ययन करेंगे – वह स्तर जो हमारे दैनिक अनुभव को दर्शाता है। यहाँ हम देखेंगे कि कैसे हमारा मन वस्तुओं और अनुभवों पर विभिन्न गुण और विशेषताएँ आरोपित करता है, जो वास्तव में उनमें मौजूद नहीं होतीं।

इसके बाद हम परतंत्र स्वभाव की ओर बढ़ेंगे, जो वास्तविकता का वह स्तर है जहाँ सभी घटनाएँ परस्पर निर्भर और संबंधित हैं। यह बौद्ध धर्म के प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धांत से मेल खाता है और हमें यह समझने में मदद करता है कि कैसे हमारे अनुभव विभिन्न कारणों और परिस्थितियों का परिणाम हैं।

अंत में, हम परिनिष्पन्न स्वभाव का अध्ययन करेंगे, जो वास्तविकता का सबसे शुद्ध और गहन स्तर है। यह वह अवस्था है जहाँ सभी द्वैत और विभेद समाप्त हो जाते हैं और जो निर्वाण की अवस्था से निकटता से जुड़ी हुई है।

त्रिस्वभाव की इस समझ के साथ, हम निर्वाण की अवधारणा की ओर मुड़ेंगे। हम निर्वाण के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करेंगे, जैसे सोपाधिशेष निर्वाण और अनुपाधिशेष निर्वाण, और देखेंगे कि कैसे ये त्रिस्वभाव सिद्धांत से संबंधित हैं।

इसके अलावा, हम योगाचार दर्शन में निर्वाण प्राप्ति के मार्गों पर भी चर्चा करेंगे। यहाँ हम देखेंगे कि कैसे योगाचार विद्वानों ने ध्यान, प्रज्ञा और करुणा के अभ्यास पर जोर दिया है और कैसे ये अभ्यास त्रिस्वभाव की समझ से जुड़े हुए हैं।

इस खंड में हम योगाचार के प्रमुख विद्वानों, जैसे असंग और वसुबंधु, के योगदान पर भी प्रकाश डालेंगे। हम देखेंगे कि कैसे उन्होंने त्रिस्वभाव और निर्वाण के सिद्धांतों को विकसित किया और उन्हें बौद्ध दर्शन के व्यापक संदर्भ में स्थापित किया।

अंत में, हम त्रिस्वभाव और निर्वाण के सिद्धांतों की आधुनिक प्रासंगिकता पर चर्चा करेंगे। हम देखेंगे कि कैसे ये सिद्धांत आज भी हमारे जीवन और समाज को समझने में मदद कर सकते हैं और कैसे वे आधुनिक मनोविज्ञान और न्यूरोसाइंस के कुछ सिद्धांतों से मेल खाते हैं।

इस खंड का उद्देश्य छात्रों को योगाचार विज्ञानवाद के इन महत्वपूर्ण सिद्धांतों की गहरी समझ प्रदान करना है। यह न केवल बौद्ध दर्शन के इतिहास और सिद्धांतों का ज्ञान देगा, बल्कि छात्रों को इन विचारों को अपने जीवन और अनुभवों के संदर्भ में सोचने के लिए भी प्रेरित करेगा।

यह खंड छात्रों को चुनौतीपूर्ण विचारों से परिचित कराएगा और उन्हें गहन दार्शनिक चिंतन के लिए प्रोत्साहित करेगा। त्रिस्वभाव और निर्वाण जैसे जटिल सिद्धांतों को समझना न केवल बौद्ध दर्शन की समझ को बढ़ाएगा, बल्कि छात्रों को अपने स्वयं के अनुभवों और वास्तविकता की प्रकृति पर गहराई से सोचने के लिए भी प्रेरित करेगा।

इस खंड में प्रस्तुत सामग्री छात्रों को योगाचार विज्ञानवाद के मूल सिद्धांतों से परिचित कराएगी, उन्हें इस विषय पर स्वतंत्र रूप से सोचने और चिंतन करने के लिए प्रोत्साहित करेगी और उन्हें आगे के अध्ययन के लिए तैयार करेगी। यह खंड न केवल बौद्ध दर्शन के इस महत्वपूर्ण स्कूल की समझ प्रदान करेगा, बल्कि छात्रों को यह भी दिखाएगा कि कैसे ये प्राचीन सिद्धांत आज भी हमारे जीवन और समाज में प्रासंगिक हैं।

प्रस्तुत खंड में योगाचार विज्ञानवाद पर विचार करते हुए इसे एक इकाई में विस्तारित किया गया है–
इकाई – 14 त्रिस्वभाव एवं निर्वाण की अवधारणा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इकाई–12

मूल सिद्धांत एवं वस्तुवाद का खण्डन

इकाई की रुपरेखा–

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.3 प्रमाणमीमांसा

12.4 अनुमान

12.5 विज्ञानवाद (योगाचार) दर्शन के विज्ञान

12.6 बाह्यार्थखण्डन

12.7 अपोहवाद के खण्डन का खण्डन

12.8 अन्य मतों का खण्डन–

- न्याय–वैशेषिक दर्शन के पदार्थ का खण्डन
- सांख्य के प्रकृतिवाद का खण्डन
- ईश्वरवाद का खण्डन
- ब्रह्मवाद का खण्डन
- आत्मवाद का खण्डन

12.9 सारांश

12.10 बोध प्रश्न

12.11 उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

पूर्व के खण्डों में बताया जा चुका है कि कि विज्ञानवाद का पूर्वकालीन रूप उसके उत्तरकालीन रूप से इतना भिन्न है कि दोनों सम्प्रदायों को एक नहीं माना जा सकता। अतः पूर्व कालीन विज्ञानवाद को केवल 'विज्ञानवाद' एवं उत्तरकालीन विज्ञानवाद को स्वतंत्र योगाचार 'स्वतंत्र विज्ञानवाद के नाम से अभिहित किया गया। विज्ञानवादी

दर्शन 'निरपेक्ष विज्ञानवाद' है। विज्ञानवाद ने निरपेक्षवाद' शून्यवाद से लिया एवं सौत्रान्तिक दर्शन के 'बाह्यानुमेयवाद' के दोषों को दूर करके अपने विज्ञानवाद की स्थापना की। कालान्तर में विज्ञानवाद पर सौत्रान्तिक मत के क्षणभंगवाद' का प्रभाव पड़ा एवं 'निरपेक्ष विज्ञानवाद' प्रवाहमान क्षणिक विज्ञान–संतान रूप बन गया एवं एक नयी तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमासा का सृजन हुआ जिसे 'स्वतंत्र' विज्ञानवाद : की संज्ञा दी गयी। प्रस्तुत खण्ड में छात्रों को इसी स्वतंत्र विज्ञानवाद की सम्यक् जानकारी करायी जाएगी।

12.1 प्रस्तावना

आचार्य दिङ्नाग एवं उनके शिष्यों ने विज्ञानवाद को एक नवीन आयाम दिया। दिङ्नाग तमिल प्रदेश के कांची (काञ्चीवरम्) जिले के सिंहवक्त नामक गाँव के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के नागदत्त नामक भिक्षु से उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। पुद्गल के स्वरूप पर आचार्य से मतभेद होने के कारण उन्होंने उनका साथ छोड़ दिया और उत्तर भारत में आकर वसुबन्धु के शिष्य हो गए। वसुबन्धु का शिष्य होने के कारण इतिहास वेत्ताओं ने 5वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध लगभग 425 ई. को उनका काल माना है।

स्वतंत्र विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन का तार्किक सम्प्रदाय है। दिङ्नाग को 'बौद्ध न्याय' का जनक' कहा जाता है। इसने न्याय दर्शन के तर्क का खण्डन करते हुए अपने बौद्ध तर्क को विकसित किया है। इसने सौत्रान्तिक मत के क्षणिक धर्मों को क्षणिक विज्ञानों में परिवर्तित कर दिया है एवं शून्यवाद एवं विज्ञानवाद के विज्ञप्तिमात्रता या विज्ञानमात्र नामक नित्य एवं निरपेक्ष परम तत्त्व को अस्वीकार कर दिया एवं क्षणिक विज्ञान को ही एकमात्र तत्त्व स्वीकार किया। इस सम्प्रदाय में जहाँ कहीं भी विज्ञप्तिमात्र या विज्ञानमात्र शब्दों का प्रयोग हुआ उनका तात्पर्य सदा क्षणिक विज्ञान से है जो इस सम्प्रदाय में एक मात्र तत्त्व है। इसने आलय विज्ञान की भी उपेक्षा की है तथा सौत्रान्तिक के कल्पनावाद, स्वलक्षण – सामान्य लक्षणवाद, क्षणभङ्गवाद, कारणकार्यवाद, अर्थक्रिया– कारित्ववाद आदि को अपनाकर अपने क्षणिक विज्ञानवाद के रूप में विकसित किया। यह सम्प्रदाय एक साथ तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा है।

वसुबन्धु के दर्शन में क्षणिकवाद का क्षेत्र इन्द्रियगोचर पदार्थ तक ही सीमित था। दिङ्नाग ने उसे विज्ञप्ति पर भी लागू किया और घोषित किया कि विज्ञप्ति शाश्वत नहीं है वरन् विज्ञानों की प्रतिक्षण परिवर्तनशील संतति मात्र है। क्षणिकत्व ही इसका स्वरूप है। वस्तुतः यह क्षण है। इस प्रकार उन्होंने विज्ञप्ति को बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त ''सर्वक्षणिकम' या यत् सत् तत्क्षणिकम्' से सुसम्बद्ध किया। उनके अनुसार परमार्थ वह है जो कार्पोत्पादन में सक्षम हो। 'अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं परमार्थ सत्' किसी नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उत्पति का अर्थ है परिवर्तन। अतः शाश्वत लक्षणा विज्ञप्तिमात्रता परमार्थ नहीं हो सकती । वस्तुतः वह क्षणिक है। उन्होंने क्षणिक विज्ञप्तिमात्रता को 'स्वलक्षण' नाम से अभिहित किया । उनके अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। यह देश, काल, स्वभाव आदि बुद्धि की कोटियों से परे हैं 'देशकाल स्वभावाननुगतं सर्वतोव्यावृतं स्वलक्षणं क्षणम्' ।

इसकी सत्ता सबसे पृथक् है। यह स्वयं–प्रकाश एवं स्वभाव से ही निर्मल होता है। किन्तु आगन्तुक गुणों के कारण मलिन प्रतीत होता है। वस्तुतः यह निर्गुण है। जिन गुणों की हम इसमें कल्पना करते हैं। वे मानव बुद्धि द्वारा आरोपित धर्म हैं। यह प्रपंचातीत, सर्वलक्षण शून्य, अनिर्वचनीय और अनभिलाप्य है। बुद्धि द्वारा इसका निर्वचन संभव नहीं, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह अदृश्य और अज्ञेय है। यह प्रत्यक्षगोचर है निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवस्था में हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इसका साक्षात्कार कर सकते हैं तथा परिणाम को देखकर हम इसके अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। इस सम्प्रदाय ने प्रमुख रूप से नैयायिकों एवं मीमांसकों के तर्कशास्त्र एवं वस्तुवाद का खण्डन किया है और प्रत्युत्तर में नैयायिकों एवं मीमांसकों ने अपने सिद्धान्तों का मण्डन एवं स्वतंत्र विज्ञानवाद का खण्डन किया है। इस खण्डन–मण्डन की प्रक्रिया में भारतीय दर्शन पर्याप्त समृद्ध हुआ। दिङ्नाग के ग्रन्थों में प्रमाण सम्मुच्चय, आलम्बन परीक्षा, अभिधर्म कोशमर्म– प्रदीप, त्रिकालपरीक्षा, न्याय बिन्दुसुभाषित संग्रह आदि प्रसिद्ध है। धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में प्रमाण वार्तिक, प्रमाण विनिश्चय, न्याय बिन्दु, हेतु बिन्दु, सम्बन्ध परीक्षा प्रमुख हैं। शान्ति रक्षित की 'तत्त्वसंग्रह एवं कमलशील की पन्जिका है। देवेन्द्र बोधि की प्रमाणवार्तिक पन्जिका विनीत देव की न्यायबिन्दु टीका, प्रज्ञाकर गुप्त की प्रमाणवार्तिक भाष्य, रविगुप्त की प्रमाणवार्तिक वृत्ति आदि प्रसिद्ध हैं।

12.2 प्रमाणमीमांसा–

ज्ञानमीमांसा न्याय दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। आचार्य दिङ्नाग को 'बौद्ध–न्याय' का प्रतिपादक माना जाता है। इसके बाद धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के सिद्धान्तों को और अधिक व्याख्यायित किया । इन दोनों आचार्यों ने ब्राह्मण न्याय एवं मीमांसा– न्याय का खण्डन कर बौद्ध न्याय का प्रतिपादन किया। तत्त्वमीमांसा दृष्टि से दोनों दार्शनिक स्वतंत्र विज्ञानवाद को स्वीकार करते हैं।

ब्राह्मण न्याय और मीमांसा न्याय में प्रायः दिङ्नाग का खण्डन मिलता है। धर्मकीर्ति ने इन खण्डनों का समुचित उत्तर देकर बौद्ध न्याय का मण्डन किया। इस दृष्टि से धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ दिङ्नाग के ''प्रमाण समुच्चय' के समान ही महत्वपूर्ण है। आजकल प्रमाण समुच्चय का कुछ ही अंश संस्कृत में उपलब्ध हैं। इसलिए बौद्ध न्याय का पठन–पाठन प्रमाणवार्तिक से ही होता है।

दिङ्नाग से पूर्व ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में 'प्रमाण संप्लव' का सिद्धांत प्रचलित था जिसके अनुसार एक ही वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा अन्य प्रमाणों द्वारा भी हो सकता है। जब एक विषय एक से अधिक प्रामाणों द्वारा ग्रहण किया जाता है तो उसे 'संप्लव' कहते हैं। इसमें एक प्रमेय से कई प्रमाणों का व्यवहार होता है। न्याय – दर्शन संप्लववादी है। न्याय दर्शन प्रमाण संप्लव' को स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रमाण चार प्रकार के है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। परन्तु किसी दशा में एक प्रमेय अनेक प्रमाणों से ग्रहण किया जाता है। नैयायिक वात्स्यायन कहते हैं कि 'यहाँ अग्नि है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ऊष्ण स्पर्श के द्वारा हो सकता है वा धूम्र को देखकर अनुमान द्वारा भी हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रयोग एक ही प्रमेय (अग्नि) के लिए हो सकता है। यही संप्लव है। आचार्य दिङ्नाग ने 'प्रमाण संप्लव' के स्थान पर 'प्रमाण व्यवस्था' को

स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान के क्षेत्र पूर्ण रूप से पृथक् हैं। अतः प्रत्यक्ष का विषय न तो अनुमान का विषय हो सकता है और न अनुमान का विषय प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है। दिङ्नाग के अनुसार प्रमा के दो ही साधन है– प्रत्यक्ष और अनुमान। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य लक्षण या वस्तुएँ अनुमान का।

12.3 प्रत्यक्ष

दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्प है और नाम, जाति, गुण कर्म, द्रव्य आदि बुद्धि – विकल्पों से असंपृक्त है।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नामजात्याद्यसंयुतम् ।

(प्रमाण समुच्चय)

उनके अनुसार यह ज्ञान की वह अवस्था है जहाँ वस्तु इन्द्रियगोचर तो होती है किंतु वह क्या है? यह निश्चय होने से पूर्व ही वह ओझल हो जाती है। अतः इसके कार्य से हम यह अनुमान लगाते हैं कि वस्तु क्या थी? चूंकि प्रत्यक्ष ऐसी अवस्था है जहाँ नाम जात्यादि कोटियाँ नहीं होतीं। अतः प्रत्यक्ष के विषय 'स्वलक्षण' के विषय में हम विध्यात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकते। हम जो कुछ भी वर्णन करते हैं वह 'सामान्य लक्षण' का करते हैं अर्थात् स्वलक्षण का वह रूप जिसे हमने बुद्धि–कोटियों में आबद्ध कर लिया है। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष नैयायिकों एवं मीमांसकों के प्रत्यक्ष से भिन्न है। नैयायिकों एवं मीमांसकों के प्रत्यक्ष निर्विकल्पक एवं सविकल्पक रूप से द्विविध हैं। प्रथम क्षण में वस्तु का इन्द्रिय–संवेदन होता है एवं तत्पश्चात् द्वितीय क्षण में विशेषण–विशेष्य संम्बन्धात्मक विकल्पों में अभिव्यक्ति होती है। प्रथम क्षण निर्विकल्पक है जबकि द्वितीय क्षण सविकल्पक प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग के अनुसार नाम, जाति आदि से रहित प्रत्यक्ष यथार्थ है अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही यथार्थ है। नाम, जाति आदि तो बौद्धिक कल्पना है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष इनसे मुक्त है। इस प्रत्यक्ष का विषय केवल स्वलक्षण है। स्वलक्षण अनिर्वचनीय सत्ता है एवं शुद्ध प्रत्यक्ष है।

12.4 अनुमान

किसी हेतु के ज्ञान द्वारा उस हेतु के साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। अनुमान में तीन पद होते हैं– पक्ष, हेतु और साध्य । अनुमान के लिए आवश्यक है कि हेतु और साध्य के बीच सम्बन्ध हो और द्रष्टा को उस सम्बन्ध का पूर्वज्ञान हो। उदाहरणार्थ, किसी स्थान पर धुँआ को देखकर अग्नि का अनुमान वही व्यक्ति लगा सकता है जो यह जानता हो कि जहाँ–जहाँ धूम्र है वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होगी। वात्स्यायन के अनुसार किसी हेतु या लिंग के पूर्वज्ञान के अधार पर किसी विषय के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

बौद्ध दर्शन में हेतु या लिंग को त्रिरूपात्मक माना जाता है अर्थात् हेतु या लिंग के तीन लक्षण होने चाहिए–

1. हेतु को पक्ष में होना चाहिए अर्थात् धूम की पर्वत में सत्ता।

2. हेतु को सपक्ष में होना चाहिए अर्थात् धूम्र की रसोई घर या महानस में सत्ता। (पक्ष सदृश वस्तुएँ 'सपक्ष' कहलाती हैं)।

3. हेतु की विपक्ष में असत्ता अर्थात धूम्र की जलाशय में असत्ता। जलाशय विपक्ष है।

न्याय ने हेतु के पाँच लक्षण पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधितत्व मानते हैं। परन्तु बौद्ध इसे नहीं मानते। इनके अनुसार त्रिरूपात्मक वैध हेतु से ही साध्य का अनुमान हो सकता है। इस अनुमान का प्राण 'व्याप्ति' है जिसे 'अविनाभाव नियम' या 'नियत साहचर्य नियम' कहते हैं। यह हेतु और साध्य का संबंध बताती है। बौद्ध दर्शन में यह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता–

1. हेतु साध्य का कार्य है। पवर्त पर अग्नि है क्योंकि वहाँ धुँआ है। (पर्वत वह्निमान धूमत्वात)

2. हेतु साध्य का अंश है। (तादत्म्य) यह वृक्ष है क्योंकि यह शिंशुपा है।

अयं वृक्षः शिशुंपात्वात।

3. अनुपलब्धि– हेतु की अनुपलब्धि से यह ज्ञान प्राप्त करना कि साध्य भी अनुपस्थित होगा। जैसे वृक्ष की अनुपस्थित को ध्यान रखकर यह अनुमान लगाना कि वहाँ शीशम या आम नहीं है।

दिङ्नाग के अनुसार हेतु के द्वारा न तो हम साध्य का ज्ञान प्राप्त करते है और न साध्य और पक्ष के सम्बन्ध का बल्कि साध्य युक्त पक्ष का। अनुमान दो प्रकार का होता है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जब कोई अनुमान व्यक्ति स्वंय के लिए अपनी अन्तः करण में करता है तो यह स्वार्थानुमान है। परन्तु जब व्यक्ति अपने निष्कर्ष को किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष प्रदर्शित करता है तो इसे परार्थानुमान कहते हैं। न्याय दर्शन परार्थानुमान में पंचावयव वाक्य मानता है जबकि दिङ्नाग इसे केवल दो अवयवों का वाक्य ही मानते हैं। प्रथम सोदाहरण व्याप्ति और दूसरा प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय–निगमन समन्वय। उनका परार्थानुमान इस प्रकार है–

जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि अवश्य है जैसे रसोई घर में। अतः पर्वत धूम्रवान होने के कारण अग्निवान है।स्वतंत्र विज्ञानवाद के अनुसार अनुमान की गति सामान्यलक्षण तक ही सीमित है। अनुमान सविकल्प बुध्दि का क्षेत्र है और बुध्दि की पहुँच स्वलक्षण रूपी तत्व तक नहीं है। अतः अनुमान की सत्ता व्यावहारिक है,पारमार्थिक नहीं।

बौद्ध न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। शब्द प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत है। उपमान प्रत्यक्ष और स्मृति का समन्वय है। अर्थापत्ति का अन्तर्भाव भी अनुमान में हो जाता है। अभाव या तो असत् है या प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

क्षणभंगवाद

12.5 विज्ञानवाद (योगाचार) दर्शन के विज्ञान

संतान को ही परम तत्व के रूप में मान्यता देकर स्वतंत्र विज्ञानवाद ने अपने नवीन तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण का विकास किया। वसुबन्धु के दर्शन में क्षणिकवाद का क्षेत्र प्रत्यक्ष जगत् तक ही सीमित था। दिङ्नाग ने इसे विज्ञप्ति पर लागू किया और बताया कि विज्ञप्तिमात्रता नित्य एवं शाश्वत सत्ता नहीं है वरन् विज्ञानों की प्रतिक्षण परिवर्तनशील सन्तति मात्र है। यह क्षणिक है क्यों कि कोई नित्य सत्ता अर्थक्रियासमर्थ नहीं हो सकती। नित्य सत्ता में किसी अन्य को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार स्वतंत्र विज्ञानवाद नें सौत्रान्तिक मत के क्षणिकत्व–दृष्टि को विज्ञानों पर लागू किया। प्रस्तुत इकाई में छात्रों को इसी क्षणभंडवाद की जानकारी दी जाएगी।

गौतम बुद्ध ने जगत् एवं आत्म–तत्व के विषय में अस्थायित्व, परिवर्तनशीलता, संभूति, प्रक्रिया एवं परिवर्तन का सिद्धान्त दिया एवं विश्व के सन्दर्भ में अनित्यतावाद का सिद्धान्त। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु कार्यकारणनियम पर आधारित है। कारण–क्षण कार्य क्षण को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के अनुसार विश्व अनित्य एवं अस्थायी है। कालान्तार में इसी अनित्यवाद का विकास हीनयान दर्शन में क्षणभङ्गवाद के रूप में हुआ जिसे स्वतंत्र विज्ञानवाद ने स्वीकार कर क्षणिक–विज्ञान संतान को ही तत्व की संज्ञा दी।

धर्म कीर्ति ने 'न्याय बिन्दु' में कहा कि परमार्थ सत्ता का लक्षण अर्थक्रियासामर्थ्य है (अर्थक्रिया सामर्थ्य लक्षणं परमार्थ सत्)। पुनः जो क्षणिक है वही अर्थक्रिया में समर्थ हो सकता है। नित्य पदार्थ क्रियाहीन शशश्रृंग के समान है। अतः दधुना में विद्यमान रहने वाला एक अनिर्वचनीय अर्थक्रियासमर्थ क्षण हैं। यही तत्व है, यही परमार्थ सत् है। बुद्धि प्रपञ्च रुपी यह समस्त जगत् केवल व्यवहार और उपचारमात्र कल्पना है। सत्ता और अर्थक्रियासामर्थ्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। तत्व का अर्थ है गति या परिवर्तन। यह नहीं समझना चाहिए कि तत्व है जो गतिशील या परिवर्तनशील है वरन् अनवच्छिन्न गति या निरन्तर परिवर्तन ही एकमात्र तत्व है। गति और गतिशील पदार्थ, परिवर्तन और परिवर्तनशील पदार्थ, क्षण और क्षणिक वस्तु – इसमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इनका भेद एवं बुद्धि के कारण है और इसलिए मिथ्या हैं। क्षणों के उत्पाद विनाश का निरन्तर प्रवाह चल रहा है। जिससे नया एकत्व, द्रव्यत्व और नित्यत्व की भ्रान्ति होती है नदी में प्रतिक्षण नया पानी आता है। अतः हम उसी जल में दुबारा स्नान नहीं कर सकते क्योंकि वह जल तो बहकर आगे चला गया और उसके स्थान पर दूसरा जल आ गया है अतः दूसरी डुबकी दूसरे जल में ही लगेगी । बौध्द दर्शन में दीपशिखा का उदाहरण दिया गया है। यह नहीं कहा जा सकता है कि एक ही दीपक जल रहा है वरन् दीपक अनेक क्षणिक शिखाओं का सन्तानमात्र है। एक दिखाई देने वाली दीपशिखा में भी प्रतिक्षण नई शिखा पहली लौ का स्थान ग्रहण करती है।

सत् क्षणिक है। जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका विनाश भी होगा। जो उत्पत्ति के तुरन्त बाद नष्ट हो जाता है, वही क्षणिक हैय और जो क्षणिक है वही क्षण है। क्षणिक और क्षण में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि कोई वस्तु भाव या

धर्म नहीं है जो क्षणिक न हो। अतः किसी वस्तु की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता है। उत्पाद और विनाश एक आनन्तर्य नियम है जिसमें कारण–क्षण के अनन्तर कार्य क्षण आवर्तित होता है। उत्पाद और विनाश एक ही वस्तु के दो रुप हैं और दोनों ही क्षणभङ्गवाद को सिद्ध करते हैं। उत्पत्तिशील धर्म का विनाश अवश्य होगा, इस वाक्य का अर्थ है कि प्रत्येक धर्म क्षणिक है। यहाँ क्षण कोई कालावधि नहीं है, वरन् उत्पत्ति के बाद तुरन्त विनाश हो जाना ही क्षण है और इस स्वभाव को धारण करने वाली वस्तु क्षणिक है। प्रतिपक्षी यह आक्षेप करते हैं कि यदि भाव क्षण स्थायी है तो उत्पति, विनाश, स्थिति एक ही क्षण में होने से पर्यायवाची हो जाएंगे, उचित नहीं है उत्पति और स्थिति तो एक ही है क्योंकि दोनों का अर्थ है–सत्ता में आना। अतः उत्पति, स्थिति, सत्ता, अर्थ–क्रियासामर्थ्य एक ही है। कारण क्षण कार्योत्पाद के अनन्तर ही नष्ट होता है, अतः उत्पत्ति या विनाश एक नहीं है। पुनः, किसी वस्तु का उत्पाद या विनाश नहीं होता, उत्पत्ति के अनन्तर विनष्ट होना वस्तु का स्वभाव है और यही क्षण है। इसमें कारण और कार्य समकालीन नहीं हैं क्योंकि कारण प्रथम क्षण में होता है और कार्य द्वितीय क्षण में होता है। कारण की सत्ता मात्र से कार्य उत्पन्न होता है क्योंकि सत्ता का अर्थ ही कार्योत्पादक क्षमतावान होना।

जैन दार्शनिक हेमचन्द्र ने 'क्षणभङ्गवाद' का खण्डन किया है क्योंकि उनके अनुसार इसको मानने पर कृत प्रणाश और अकृत कर्म भोग के दोष उपस्थित होंगे, वन्धन, मोक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या नहीं हो सकेगी।

कृतप्रणाशाकृत्कर्म भोग भवप्रमोक्ष स्मृतिभङ्गदोवान् ।

उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन् अहो । महासाहसिक परस्ते ।

इसके उत्तर में स्वतंत्र विज्ञानवादी कहते हैं कि स्वलक्षण रूपी परमार्थ सत् और अर्थक्रियासमर्थ क्षणों के प्रवाह का ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता । धर्मधर्मिव्यवहार रूप समस्त जगत्प्रपञ्च विकल्प– ग्राह्य सामान्य–लक्षण के अन्तर्गत आता है। बुद्धि क्षण–प्रवाह पर एकत्व, द्रव्यत्व, नित्यत्व आदि विकल्पों को आरोपित कर देती है और क्योंकि यह आरोप साधारण व्यवहार के लिए आवश्यक है, अतः सादृश्य ज्ञान, स्मृति, कर्म, कर्ता, फल, भोक्ता, बन्धन, मोक्ष, मोक्षसाधन आदि साधारण व्यवहार में सिद्ध हैं। वस्तुतः क्षणभङ्गवाद को स्वीकार करने पर ही व्यवहार में हम समस्त लौकिक पदार्थों की संगत व्याख्या कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यदि नित्यवाद को स्वीकार किया जाए तो कर्म, कर्ता, फल, भोक्ता, बन्धन, मोक्ष, मोक्षसाधन आदि सब असम्भव हो जाएंगे क्योंकि नित्य तत्व सदा अपरिवर्तनशील, अगतिशील और कार्मोत्पादक क्षमताशून्य वन्ध्या पुत्र के समान अलीक है। कारण कार्य को उत्पन्न करता है, अतः कृत्प्रणाश नहीं होता और बिना कारण के कार्य नहीं होता, अतः अकृताभ्यागम नहीं होता । कर्म और फलभोग, बन्धन और मोक्ष आदि का एकाधिकरण सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पन्न क्षण प्रवाह में एकाधिकरण का प्रश्न नहीं उठ सकता। वस्तुतः क्षणों के अतिरिक्त कोई कर्ता, भोक्ता, बद्ध, मुक्त आदि नहीं है अतः, एक ही व्यक्ति, कर्ता, भोक्ता बद्ध, मुक्त नहीं हो सकता। शुभ कर्मों की धारा कल्याण और अशुभ कर्मों की धारा दुःख उत्पन्न करती है। प्रतीत्यसमुत्पाद की अविद्या संभूत क्षण–संतति जरामरणरूपी दुःख उत्पन्न करती है। यही बन्धन है और यही क्षण– संतति अविद्या को नष्ट करने वाली विद्या से सम्भूत हो तो यही मोक्ष है। इस प्रकार क्षणभङ्गवाद से ही परमार्थ और व्यवहार दोनों सिद्ध होती है।

12.6 बाह्यार्थखण्डन

मूलविज्ञानवाद और उत्तरविज्ञानवाद दोनों ने अपनी प्रत्ययवादी तत्वमीमांसा (Idealistic Metaphysics) में समान रुप से बाह्य वस्तुओं का खण्डन किया है एवं विज्ञानमात्र या विज्ञप्तिमात्र की सत्यता का प्रतिपादन किया है। मूल विज्ञानवाद ने सौत्रान्तिक मत के 'बाह्यानुमेयवाद' का परिमार्जन कर विज्ञानवाद को प्रतिष्ठापित करने का कार्य किया है। विज्ञानबाद के अनुसार बाह्यानुमेयवाद भी उतना ही दोषपूर्ण है जितना वाहय प्रत्यक्षसवाद। हमें संवेदनों का अनुभव होता है, उसको उत्पन्न करने वाले तथाकथित किसी बाह्य जड़ पदार्थ का नहीं। यदि संवेदनों को उत्पन्न करने वाले कारण के रूप में इन बाह्य पदार्थों का अनुमान किया जाए, जैसे कि सौत्रान्तिक स्वीकार करता है, तो विज्ञानवाद का उत्तर है कि संवेदन तो मानस धर्म है अतः इनको उत्पन्न करने वाले कारण के रूप में बाह्य भौतिक पदार्थ को मानना असंगत है तथा इसका कारण विज्ञान ही हो सकता है। योगाचार सम्प्रदाय युक्तियों के आधार पर बाह्य जड़ पदार्थों की सत्ता का खण्डन एवं विज्ञानमात्र तत्व का मण्डन करता है। उसकी युक्तियाँ दो प्रकार की हैं। प्रथम वर्ग में वे युक्तियाँ हैं जिनके द्वारा बाह्यार्थ का खण्डन होता है एवं द्वितीय वर्ग में वे युक्तियाँ हैं जिनके आधार पर विज्ञानों की एकमात्र सत्ता का प्रतिपादन होता है।

विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि कोई वस्तु की सत्ता हम स्वीकार भी करें तो उसका ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि या तो वस्तु परमाणु–रूप है या परमाणु– संघात । यदि वस्तु परमाणु है तो उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है क्यों कि परमाणु अतीन्द्रिय होता है । पुनः यदि वस्तु परमाणु–संघात है तो उसका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं है– इसके पश्चात् विज्ञानवाद ने परमाणुओं की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया क्योंकि बाह्य जगत् स्वीकार करने वाले दार्शनिक यथा न्यायवैशेषिक दर्शन ने जगत् को पारमाणविक मानकर बाह्य वस्तुओं की सत्ता स्वीकार किया है। विज्ञान वादी कहते हैं कि परमाणुओं की कल्पना करके उन्हें जगत्–कारण मानना और अधिक अनुचित होगा। परमाणुओं को निरवयव मानना और देश में उसका विस्तार मानना व्याघातक है। यदि परमाणु निरवयव है तो दिक–कालातीत होने के कारण परमाणु– संघात नहीं बन सकताः यदि परमाणु का देश में विस्तार माना जाए तो वह छह दिशाओ (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे) से एक साथ संयुक्त होगा और उसकी षडंशता सिद्ध होगी तथा वह अविभाज्य परमाणु नहीं रह सकेगा। परमाणु–संघात भी संभव नहीं है। यदि परमाणु नित्य है तो उसे संघात की क्या आवश्यकता है? और यदि परमाणु अनित्य है तो संघात बना नहीं सकते। अतः न तो परमाणु की और न परमाणु–संघात की सत्ता सिद्ध होती है।

12.7 अपोहवाद के खण्डन का खण्डन

'सामान्य' (universal) की अवधारणा के सन्दर्भ में बौद्ध दर्शन में विशेषतः स्वतंत्र विज्ञानवाद में 'अपोहवाद' का सिद्धान्त मान्य है। 'सामान्य' दर्शन में एक संकल्पना है जिसके माध्यम से अनेक विशेषों (Individual) की व्याख्या होती है। बौद्ध दर्शन में व्यक्ति ही यथार्थ माने जाते हैं तथा व्यक्तियों के अतिरिक्त सामान्य की कोई सत्ता नहीं स्वीकार की जाती है। सामान्य नाममात्र है, अर्थात् उसकी सत्ता वास्तविक न होकर काल्पनिक है। बौद्ध दर्शन में

सामान्य का विभेदक अर्थ किया जाता है। सामान्य को 'नाम' कहने का तात्पर्य है कि एक नाम वाले पदार्थ अन्य नाम वाले पदार्थों से भिन्न हैं। अपोहवाद का सर्वप्रथम प्रतिपादन दिङ्नाग ने 'प्रमाण समुच्चय' में किया। कालान्तर में धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में, शान्तिरक्षित ने 'तत्वसंग्रह' में तथा रत्नकीर्ति ने अपोहसिद्धि में इसका प्रतिपादन किया। बौद्ध दर्शनिकों का कथन है कि अपोह का अर्थ है, 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व'। तद्भिन्नभिन्नत्व का अर्थ है। किसी वस्तु की भिन्नता से भिन्न होना' या 'अपने भिन्न से भिन्न होना। जैसे, दस मनुष्य – विशेषों में जो मनुष्य, मनुष्य इस प्रकार एकाकारता की प्रतीति होती है उसका कारण उसमें रहने वाला 'मनुष्यत्व' सामान्य नहीं है, अपितु उसका 'अ–मनुष्य व्यावृत्त होना' या 'मनुष्य–भिन्न सम्पूर्ण जगत् से भिन्न होना। अर्थात किसी व्यक्ति को मनुष्य' कहने का तात्पर्य है कि वह अमनुष्य नहीं है। इस प्रकार, बौद्धो की दृष्टि में विभिन्न मनुष्यों में एकाकारकता की प्रतीति का कारण 'मनुष्यत्व जैसा कोई नित्य तत्व नहीं है, अपितु 'अमनुष्य भिन्न होना है। वही अपोह है। इस प्रकार अपोहवाद बौद्ध दर्शन का शब्दार्थ सिद्धान्त है।

दिङ्नाग के अनुसार शब्द, नाम संप्रत्यय आदि किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध नहीं कराते । हम मिथ्या धारणा बस यह सोचते हैं कि उनसे किसी वस्तु का बोध होता है। वस्तुतः वे प्रतिषेध – मूलक हैं और किसी वस्तु के अस्तित्व का संकेत उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते हैं। उदाहरण के लिए जब हम 'मनुष्य कहते हैं तो उससे मनुष्य का बोध नहीं होता, वरन् 'अमनुष्य नहीं' का बोध होता है। जिनेन्द्रबुद्धि ने 'प्रमाणसमुच्चय– वृत्ति टीका' में कहा है कि अपोह का अर्थ प्रत्येक सत्ता का निषेध नहीं है, बल्कि यह बुद्धि द्वारा कल्पित मानसिक प्रतिबिम्ब का निषेध करता है, न कि स्वलक्षण का, जो कि उसका आधार है। शान्तिरक्षित एवं कमलशील भी जिनेन्द्रबुद्धि के इस अर्थ का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार एक अपोह (मनुष्य), दूसरे अपोह (गाय) से भिन्न है। कमलशील के अनुसार वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब अपोह का मुख्य अर्थ है और अन्य वस्तुओं के मानसिक प्रतिबिम्बों की व्यावृत्ति उसका गौण अर्थ है।

प्रतिविम्व लक्षणोऽपोहः साक्षाच्छन्दैरुप जन्यमानत्वात् मुख्यः शब्दार्थ.

(तत्व संग्रह पञ्जिका)

तथा निषेध मात्रे नैवेह शब्दे ज्ञानेऽवभासते

(तत्व संग्रह पञ्जिका)

रत्नकीर्ति के अनुसार अपोह से किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब की विध्यात्मक सत्ता एवं अन्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बों के निषेध का बोध एक साथ होता है।

नास्माभिरपोह शब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृनिमात्रम

किंतु अन्यापोह विशिष्टये विधिः शब्दानामर्थः ।

(अपोह सिद्धि)

बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है। कोई भी दो वस्तुएँ पूर्णतः एकरूप नहीं हैं। किंतु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक मिलती जुलती हैं। जब हम इन वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से तुलना करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक जाति की है अथवा इनमें कोई समान्य तत्व है जो इन सभी सदृश वस्तुओं में विद्यमान है। इस सामान्य तत्व की कल्पना की उत्पत्ति वस्तुओं के भेद की उपेक्षा के कारण होती है इसे भेदाग्रह, अपोह, अन्यव्यावृत्ति या अतद्व्यावृति का सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त न्याय दर्शन के सामान्य सिद्धान्त से मिलता है क्योंकि बौद्ध और नैयायिक दोनों यह मानते हैं कि अपोह या जाति के दो कार्य हैं। ये एक वर्ग की सभी वस्तुओं को उस वर्ग में समाविष्ट करती हैं और अन्य वर्ग की वस्तुओं को उस वर्ग से अलग करते हैं। दोनों में अन्तर इस बात में है कि नैयायिकों के अनुसार जाति या सामान्य एक विध्यात्मक एवं वास्तविक सत्ता है जबकि बौद्ध दर्शन के अनुसार सामान्य एक निषेधात्मक एवं कल्पित सत्ता है।

शान्तरक्षित के अनुसार अपोह के दो भेद है – पर्युदास (सापेक्ष अभाव) एवं निषेध या प्रसज्य प्रतिषेध (आत्यन्तिक अभाव)। पर्युदास के भी दो भेद हैं– बुद्धयात्मन् (प्रत्यय– भेद पर आधारित) एवं अर्थात्मन (वास्तु– भेद पर आधारित) बुद्धयात्मन् ही वास्तविक अपोह है। अपोह आचार्य दिङ्नाग की अन्यतम उपलब्धि है एवं विज्ञानवाद की ज्ञानमीमांसा के लिए आवश्यक है। बुद्धि इसी की सहायता से निर्विकल्प संवेदनों से एक वास्तविक जगत् की भ्रान्ति को जन्म देती है।

उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन ने बौद्ध 'अपोह – सिद्धान्त' का प्रबल खण्डन किया है। बौद्धों के अनुसार तथाकथित सामान्य विशेषों से भिन्न नहीं हैं क्योंकि यह विशेष से भिन्न देश के किसी भाग में नहीं रहता । यदि यह मान लिया जाए कि समान्य विशेष में ही रहता है तो प्रश्न है कि यह पूर्णतः विशेष में रहता है या अंशतः । यदि यह स्वीकार किया जाए कि सामान्य पूर्णतः विशेष में रहता हो तो इसके एक ही विशेष होने का प्रसंग उपस्थित होगा। इस प्रकार वह अनेकानुगत नहीं हो सकता। यदि उसे अंशतः विशेषों में स्थित माना जाए तो उसे अंशों से निर्मित मानना होगा और वह अनित्य सत्ता होगा।

यदि सामान्य की सत्ता स्वीकार की जाए तो एक अन्य प्रश्न यह है कि वह केवल अपने वर्ग के विशेषों में रहता है या सर्बत्र ? जैसे गोत्व – जाति गो–विशेषों में ही रहती है, या सर्वत्र। यदि गोत्व केवल गो– विशेषों में रहता है तो नवजात गो–शिशु में नहीं रह सकता, क्योंकि वह उत्पन्न होने के पूर्व वहाँ नहीं था। हम यह नहीं कह सकते कि गोत्व गो–शिशु के साथ उत्पन्न हुआ क्योंकि वह तो फिल्म है। गोत्व अन्य गो–विशेषों से आकर भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि वह अमूर्त होने से गतिशून्य है। पुनः क्या गो–विशेषों के नष्ट होने पर गोत्व नष्ट हो जाता है। यदि हाँ तो इसका नित्यत्व बाधित होता है। यदि नहीं तो उसे गो से बाहर रहना चाहिए, किंतु ऐसा दिखाई नहीं देता। यदि गोत्व सर्वत्र रहता है तो उसे गो–भिन्न पदार्थों में भी रहना चाहिए जो कि असंभव है।

नैयायिकों के इन आक्षेपों का स्वतंत्र – विज्ञानवादी इस प्रकार उत्तर देते हैं अपोह द्विविध है, पर्युदास एवं निषेध । पर्युदास भी द्विविध है, बुद्ध्यात्म एवं अर्थात्म । वस्तुतः पदार्थ अत्यन्त भिन्न है, किंतु नियत शक्ति के कारण कतिपय पदार्थ 'समानता' की बुद्धि को जन्म देते हैं। नियत शक्ति के कारण बुद्धि में एक प्रकार का प्रतिबिम्ब या आभास झलकता है और भ्रमवश इस 'अभास' को 'बाह्य पदार्थ मान लिया जाता है प्रतिबिम्ब या अभास का ग्रहण ही अपोह है और यही शब्दों का अर्थ है क्योंकि वास्तविक अर्थ (स्वलक्षण) को शब्द स्पर्श भी नहीं कर सकता अतः कोई पदार्थ अपोह – विशिष्ट नहीं माना जा सकता। शब्द का अर्थ प्रतबिम्ब ग्रहण तक ही सीमित है।

प्रतिबिम्ब – ग्रहण के बाद इतर– व्यावृत्ति सामर्य्थ या अर्थवृत्ति द्वारा सिद्ध हो जाती है पर्नुदास का साक्षात् ग्रहण होता है और निषेध का सामर्य्थ द्वारा। अतः विना निषेध या अभाव के सत्ता या भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों सापेक्ष है।

12.8 अन्य मतों का खण्डन–

शान्तरक्षित ने अपने 'तत्वसंग्रह' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में अपने समय में प्रचलित अन्य मतों का प्रखर खण्डन किया है जैसे उन्होंने न्याय–वैशेषिक दर्शन के पदार्थ का खण्डन, सांख्य के प्रकृतिवाद का, ईश्वरवाद, ब्रह्मवाद और आत्मवाद का खण्डन किया है।

न्यायवैशेषिक पदार्थों का खण्डन– द्रव्य एवं गुण दोनों अन्योन्यापेक्ष होने से मिथ्या हैं। द्रव्य न तो गुण समूह है न ही गुणविलक्षण पदार्थ। उदाहरण के लिए हम कोई पट (कपडा) नहीं देखते, हम केवल रूप, रंग, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, चिकनाई आदि देखते हैं, फिर भी हम केवल इस गुणसमूह को ही पट नहीं कह सकते। परमाणुवाद भी कल्पनामात्र है। यदि परमाणु नित्य और अविभाज्य है तो उनका संघात नहीं हो सकता और सृष्टि भी नहीं हो सकती। यदि परमाणु– संघात बनता है तो परमाणु को कम–से–कम षडंश मानना पड़ेगा और इस प्रकार विभाज्य होने से वह परमाणु न रहेगा। यदि परमाणु नित्य है तो सृष्टि की आवश्यकता नहीं और यदि अनित्य है तो सृष्टि कर नहीं सकते । यदि परमाणु सत् है तो सृष्टि युगपत होगी, क्रमशः नहीं और यदि परमाणु असत् है तो उससे सृष्टि नहीं होगी।

कर्म भी सम्भव नहीं है। यदि पदार्थ नित्य हैं तो उसमें कर्म या विकार असंभव हैं। यदि पदार्थ क्षणिक हैं तो उन्हे कर्म करने का अवकाश नही है यदि गति गन्ता का स्वभाव है तो स्थिति असम्भव है, यदि गति गन्ता का स्वभाव नही है तो गति असम्भव है। यदि एक वस्तु में एक समय गति और स्थिति दोनों हो तो वह वस्तु एक न होकर दो हो जाएगी।

द्रव्य–गुण, द्रव्य – कर्म, और अवयवी–अवयव आदि का नित्य सम्बन्ध 'समवाय 'माना जाता है। किंतु जब द्रव्य गुण अन्योन्यापेक्ष होने से मिथ्या है तो उनका संबंध भी मिथ्या है। अपि च, समवाय स्वयं को द्रव्य और गुण से

सम्बद्ध करने के लिए दूसरे समवाय की अपेक्षा रखता हैं और दूसरा समवाय तीसरे समवाय की। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

जब द्रव्य ही असंगत है तो 'विशेष' की कल्पना व्यर्थ है। विशेष केवल क्षण है।

'सामान्य' भी कल्पनामात्र है। भाव पदार्थ भिन्न–भिन्न हैं। प्रत्येक 'गाय' अपने में सत् पदार्थ है, किंतु 'गोत्व' असत् है, कल्पनामात्र है। प्रत्येक गाय को गिनना और उनके भिन्न– भिन्न नाम रखना आदि सामर्थ्य के बाहर है, साथ ही व्यर्थ भी । अतः वृद्ध पुरुषों ने अतत्कार्य व्यावृत्ति के लिए गोत्व नामक सामान्य की कल्पना कर ली। किंतु यह केवल 'कल्पना', नाम, संकेत ही है। जो गोत्व एक गाय में है वह अन्य गायों में कैसे रह सकती है। जब एक गाय उत्पन्न होती है तो यह गोत्व' उसमें बाहर से आकर नहीं घुसता या जब कोई गाय मर जाती है तो यह गोत्व' उसमें से निकलकर बाहर नहीं जाती। पुनः अभाव' को भिन्न पदार्थ मानना असंगत है क्यों कि भाव और अभाव एक ही वस्तु के दो रूप हैं।

परमार्थ सत् केवल क्षणिक स्वलण हैं। बुद्धि– विकल्प, नाम, शब्द आदि की गति तत्व तक नहीं है। परमार्थ न एक है और न अनेक, न अभेद है और न भेद, न उनमें एकीकरण है न विघटन । ये सब बुद्धि विकल्प हैं। बुद्धि और वाणी परमार्थ का ग्रहण नहीं कर सकती । स्वलक्षण अद्वितीय और अनिर्वचनीय है।

सांख्य प्रकृतिवाद का खण्डन– सांख्य दर्शन जड़ प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता मानता है और इसे कार्य रूप समस्त जगत्–प्रपञ्च का आदि कारण स्वीकार करता है। समस्त जगत् बीज रूप से अपने कारण में अन्तर्निहित रहता है। सर्ग के समय यह कार्य रूप में व्यक्त होता है और प्रलय के समय यह पुनः प्रकृति में लीन हो जाता है। सांख्य सत्कार्यवादी है। कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी बीज रूप से कारण में सत है। यदि कार्य कारण में 'असत्' है तो फिर उससे उसकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती । स्वतंत्र विज्ञानवादी कहते हैं कि सांख्य दर्शन जिन तर्कों से असत्कार्यवाद का खण्डन करता है उन्हीं तर्कों से सत्कर्यवाद भी खण्डित हो जाता है। यदि कार्य कारण में उत्पत्ति पूर्व 'सत् है और सत् होने से उत्पन्न है तो उसकी दुबारा उत्पति पुनरुत्पत्ति होगी, जो व्यर्थ और अनावश्यक है।

स्वतंत्र विज्ञानवादी' अर्थक्रियासामर्थवादी है। वे कहते हैं कि यदि सत्कार्यवाद को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता ? प्रकृति नित्य होने से अर्थक्रियासमर्थ नहीं है और कार्योत्पाद नहीं कर सकती। नित्य प्रकृति को कारण मानने से समस्त जगत् एक साथ उत्पन्न होना चाहिए क्योंकि कारण सदा विद्यमान रहता है।

पुनः सांख्य प्रकृति को भी सर्ग के लिए किसी न किसी रूप में चेतन पुरुष की आवश्यकता पड़ती है तो यह सिद्ध होता है कि प्रकृति अकेली जगत्कारण नहीं है। पुनः प्रकृति को कर्त्ता एवं पुरूष को भोक्ता मानना कर्मवाद के विरूध्द है।

ईश्वरवाद का खण्डन – नित्य ईश्वर जगत्कारण नहीं हो सकता है । नित्य पदार्थ पुष्पवत् है। उसमे अर्थ क्रिया सामर्थ्य नही हो सकता। क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रियासमर्थ हो सकती है। पुनश्च यदि नित्य को कारण माना जाए तो सृष्टि युगपत् होगी, क्रमशः नहीं क्योंकि 'नित्य' सदा विद्यमान रहता है। स्वतंत्र विज्ञानवादी कहते हैं कि यह तो हम मानते है कि कारण चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं, किंतु हम नित्य और एक ईश्वर को कारण नही मानते। क्षणिक विज्ञान में ही अर्थक्रिया सामर्थ्य है। कारण एक न होकर हेतु। प्रत्यय सामग्री रूप होता है। यह सामग्री कर्मज है और कर्म चेतन द्वारा संभव है। अतः लोक वैचित्र्य हेतु प्रत्यय सामग्री शक्ति भेद के कारण सिद्ध होता है। स्वतंत्र विज्ञानवादी मानते हैं कि ईश्वर को जिस रूप में मान लिया जाता है, उसे नित्य, एक, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्ता माना जाता है, उसमें अनेक तार्किक दोष हैं। यदि सभी वस्तुएँ सकारण हैं तो ईश्वर का भी कारण होना चाहिए और इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। या तो ईश्वर पुष्पवत् है या सृष्टि युगपत् होनी चाहिए, क्रमशः नहीं। इसके अतिरिक्त ईश्वर द्वारा सृष्टि को उत्पन्न करने का प्रयोजन क्या है? यदि ईश्वर दयालु एवं पूर्ण शुभ है तो संसार में दुःख, दैन्य, दारिद्य, आधि, व्याधि, जरा,रोग, शोक, मोह आदि क्यों उत्पन्न करता है? यदि जीवों का शुभाशुभ कर्मों द्वारा प्रेरित होता है तो वह स्वतंत्र नहीं है। यदि ईश्वर लीलावश सृष्टि करता है तो वह बालक के समान अपनी लीला का भी स्वामी नहीं हो सकता । यदि सृष्टि ईश्वर का स्वभाव है तो सृष्टि युगपत् होनी चाहिए क्रमशः नहीं। यदि मकड़ी के समान ईश्वर अपने अन्दर से जगज्जाल बुनता है तो सृष्टि ईश्वर का स्वभाव नहीं है क्यों कि जाला बुनना मकड़ी का स्वभाव नहीं है. वह तो कीड़े–मकोड़े खाने की लालसा के कारण मुंह में आई लार से जाला बुनता है। यदि सृष्टि ईश्वर से अपने आप हो जाती है तो ईश्वर को बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। पुनः, यह जगत्प्रपञ्च अहेतुक भी नहीं हो सकता क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता है। अतः वासना की विविधता के कारण क्षणिक विज्ञान प्रवाह ही इस जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

ब्रह्मवाद का खण्डन–

ब्रह्मवादी ब्रह्म को नित्य, अद्वैत एवं अखण्डचिदानन्द रूप में मानते हैं जो माया की शक्ति से इस जगत् – प्रपञ्च की रचना करता है। नित्य होने से ब्रह्म अर्थक्रियाशून्य है या फिर उससे जगत् का युगपदुत्पतिदोष आ जाता है। पुनः, ब्रह्म यदि आत्मज्योतिः स्वरूप है, तो अविद्या एवं बन्ध असम्भव है एवं सभी अयत्नतः मुक्त हो जाएंगे। और यदि अविद्या ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है तो मोक्ष असम्भव है। यदि अविद्या ब्रह्म से भिन्न शक्ति है तो अद्वैतवाद नष्ट हो जाएगा । अपि च, अविद्या को अवाच्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अवाच्य तो अवस्तु ही हो सकती है और यदि अविद्या अवस्तु है तो जगत्–प्रपञ्च की उत्पति सम्भव नहीं होगी। पुनः ब्रह्म को एकरूप मानने से एक के बन्ध से सबका बन्ध एवं एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति अनिवार्य हो जाएगी। स्वतंत्र विज्ञानवादी कहते हैं कि उनके मत में अविद्या 'वितधााभिनिवेश वासना' रुपी शक्ति है बन्ध इस मिथ्या वासना शक्ति जन्य सास्रव विज्ञान प्रवाह है। योगाभ्यास द्वारा विद्या के उदय से अविद्या तथा आस्रव नष्ट होने पर विद्याजन्य अनास्रव विज्ञान प्रवाह होता है एवं ज्ञान की यह निर्मलता ही मुक्ति है अतः उसके मत में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था अयुक्तियुक्ति है।

आत्मवाद का खण्डन–

औपनिषदिक आत्मवाद–खण्डन – शान्तरक्षित और कमलशील कहते हैं कि 'अद्वैतदर्शननावलम्बी औपनिषदिक' जो ब्रह्मवादी या आत्मवादी हैं, विशुद्ध विज्ञान रुप ब्रह्म या आत्मा को एकमात्र सत्ता मानते हैं और जीव–जगत् रुपी प्रपञ्च को उसी अद्वय तत्व द्वारा अविद्या जन्य आभास मानते हैं। हम स्वतंत्र विज्ञानवादी भी अद्वय विशुद्ध विज्ञान मात्र तत्व को स्वीकार करते हैं। अतः इन अद्वैतवादी दार्शनिकों के मत में यह दोष है कि ये तत्व को नित्य मानते हैं और आत्मतत्व को नित्य मानने से वह निष्क्रिय और असत् हो जाता है तथा अविद्या, बन्ध, मोक्ष, मोक्षसाधन आदि सभी व्यर्थ हो जाते हैं।

अद्वैतदर्शननावलम्बिन चौपनिषदिकाः– पञ्जिका

तेषामल्यापराधं तु दर्शनं नित्योक्तितः। – तत्व संग्रह

न्याय – वैशोषिक आत्मवाद–खण्डन– न्याय–वैशेषिक दर्शन में आत्मा को नित्य एवं विभु द्रव्य माना जाता है जो ज्ञान, सुख–दुःख आदि का आश्रय है किन्तु स्वतः अचेतन है एवं विषय–सम्पर्क से आत्मा में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि गुण उत्पन्न होते हैं। आत्मा को स्वतः अचेतन मानना इन लोगों की विलक्षण बुद्धि का परिचय देता है। ज्ञान अपने प्रकाश के लिए अपेक्षा नही रखता । ये लोग आत्मा को जीवात्मा तक सीमित मानते हैं किन्तु विशुद्ध विज्ञान ही अविद्या अहंकार से युक्त होने पर 'आत्मा' कहा जाता है। इसकी सत्ता व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं।

अहंकाराश्रयत्वेन चित्मात्मेति गीयते।

संवृत्या, वस्तुवृत्या तु विषयोऽस्य न विद्यते।

(तत्व संग्रह)

मीमांसक आत्मावाद खण्डन – कुमारिल मानते हैं कि आत्मा बुध्दि, वेदना, यत्न आदि अनेक अवस्थाओं में प्रतीत होता है, किन्तु अपने नित्य चैतन्य स्वभाव को नहीं छोड़ता। नित्य चैतन्य रूप होने पर भी आत्मा उन्हीं पदार्थों के विज्ञानों को ग्रहण करता है जिनको विषय उसके सम्मुख उपस्थित करते हैं। विज्ञान–भेद, अर्थ–भेद के कारण होता है स्वतंत्र विज्ञानवादियों का आक्षेप है कि यदि चैतन्य विषयों द्वारा प्रभावित होता है । तो वह एकरस और नित्य नहीं हो सकता। अर्थ विज्ञान को उत्पन्न नही करता है अपितु विज्ञान ही अर्थाकार प्रतीत होता है, अन्यथा स्वप्नादि में जहाँ पदार्थ नहीं हैं उनकी प्रतीति कैसे होती है। पुनश्च, यदि क्षणिक विज्ञान, वेदना, इच्छा, यत्न आदि आत्मा स्वरूप है तो आत्मा नित्य नहीं है और यदि ये आत्मा स्वरूप नहीं है तो इनका परिवर्तन आत्मा को क्यों प्रभावित करता है। आत्मा या जीव अनादि अविद्या–जन्य अहंकार के कारण प्रतीत होता है। इसे कर्त्ता, ज्ञाता ,कर्ता, भोक्ता रूपी नित्य तत्व मानना युक्ति विरूध्द है।

सांख्य –आत्मातत्व का खण्डन – सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष निर्गुण, नित्य चैतन्य स्वरुप, ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है। पुरुष निष्क्रिय है, किन्तु फिर भी कर्मफल का भोक्ता है। यह दोष स्पष्ट है– पुनश्च, पंगु तथा अंध के समान प्रकृति और पुरुष का संयोग स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि पंगु और अंध चेतन है , किन्तु प्रकृति अचेतन है। पुरुष को भोक्ता मानना उसे जीव के स्तर पर उतारना है। कर्म करे प्रकृति और फल भोगे विचारा पुरुष। यह स्थिति कर्मवाद के विरुद्ध है।

12.9 सारांश

बौद्ध दर्शन का इतिहास ज्ञान और वास्तविकता की प्रकृति के बारे में गहन दार्शनिक चिंतन से भरा है। बौद्ध दर्शन के विकास में विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) और स्वतंत्र विज्ञानवाद दो प्रमुख धाराएँ हैं जो ज्ञान, चेतना और वास्तविकता के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए विकसित हुईं। ये दोनों धाराएँ बौद्ध दर्शन के महायान परंपरा के अंतर्गत आती हैं, लेकिन इनके बीच कई महत्वपूर्ण अंतर हैं जो इनके सिद्धांतों, प्रमाणिक ग्रंथों और दार्शनिक दृष्टिकोणों में परिलक्षित होते हैं।

यह सामग्री बौद्ध विज्ञानवाद और बौद्ध स्वतंत्र विज्ञानवाद के मध्य विद्यमान अंतरों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें दोनों विचारधाराओं के ऐतिहासिक विकास, मूल सिद्धांत, प्रमुख आचार्य, ग्रंथ और दार्शनिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, जिससे दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी इन धाराओं के बीच के सूक्ष्म अंतरों को समझ सकें।

भाग 1ः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास

बौद्ध विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) का उद्‌भव और विकास

बौद्ध विज्ञानवाद या योगाचार (विज्ञप्तिमात्रता) सम्प्रदाय का उद्‌भव लगभग चौथी शताब्दी ईसवी में हुआ था। यह महायान बौद्ध परंपरा की एक प्रमुख शाखा बनी, जिसके प्रवर्तक के रूप में मैत्रेयनाथ और असंग को माना जाता है। असंग के छोटे भाई वसुबंधु ने इस सम्प्रदाय के सिद्धांतों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

योगाचार सम्प्रदाय का नाम इसके अभ्यासियों द्वारा किए जाने वाले मानसिक अभ्यासों (योग) से आया है। इस सम्प्रदाय को "चित्तमात्र" (केवल चित्त) या "विज्ञप्तिमात्र" (केवल विज्ञान) भी कहा जाता है, जो इसके मूल सिद्धांत को दर्शाता है – कि बाहरी वस्तुएँ मन से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं, बल्कि वे चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं।

विज्ञानवाद की प्रमुख रचनाओं में "लंकावतार सूत्र", "संधिनिर्मोचन सूत्र" और "महायान सूत्रालंकार" शामिल हैं। वसुबंधु द्वारा रचित "विंशतिका" (विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि) और "त्रिंशिका" (विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि) इस सम्प्रदाय के मूल दार्शनिक ग्रंथ हैं।

बौद्ध स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद) का उद्‌भव और विकास

बौद्ध स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद) का विकास विज्ञानवाद के पश्चात् आचार्य दिङ्नाग (लगभग 480–540 ईसवी) और धर्मकीर्ति (लगभग 600–660 ईसवी) के कार्यों से हुआ। यह विज्ञानवाद का एक विकसित रूप है, जिसमें प्रमाण मीमांसा (ज्ञान के सिद्धांत) पर अधिक बल दिया गया है।

स्वतंत्र विज्ञानवाद का नाम इसके द्वारा प्रस्तावित विज्ञान (चेतना) की स्वतंत्र प्रकृति से आया है। इस धारा के अनुसार, ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है और अपने स्वरूप का ज्ञान अपने आप में निहित होता है, बिना किसी बाहरी माध्यम की आवश्यकता के।

दिङ्नाग की "प्रमाणसमुच्चय" और धर्मकीर्ति की "प्रमाणवार्तिक" स्वतंत्र विज्ञानवाद के प्रमुख ग्रंथ हैं। ये रचनाएँ प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान और प्रमाण के सिद्धांतों पर केंद्रित हैं।

भाग 2: दार्शनिक सिद्धांत और मूल अवधारणाएँ

बौद्ध विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) के मूल सिद्धांत

1. 'चित्तमात्र या विज्ञप्तिमात्र': विज्ञानवाद का मूल सिद्धांत है कि केवल चित्त या विज्ञान ही वास्तविक है। बाह्य जगत् का अस्तित्व चित्त से स्वतंत्र नहीं है। जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं, वह चेतना की अभिव्यक्ति मात्र है।

2. 'आलयविज्ञान': विज्ञानवाद में आलयविज्ञान (भंडार चेतना) की अवधारणा केंद्रीय है। यह सभी मानसिक बीजों (संस्कारों) का भंडार है, जो विभिन्न अनुभवों और धारणाओं को जन्म देता है। आलयविज्ञान व्यक्तिगत और सामूहिक कर्म के संस्कारों को संग्रहीत करता है।

3. 'त्रिस्वभाव सिद्धांत': विज्ञानवाद में तीन प्रकार के स्वभावों की अवधारणा है:

– परिकल्पित स्वभाव: भ्रामक धारणाएँ

– परतंत्र स्वभाव: कारण–कार्य संबंधों पर निर्भर अनुभव

– परिनिष्पन्न स्वभाव: परम सत्य या तथता

4. 'नैरात्म्य सिद्धांत': विज्ञानवाद पुद्गल नैरात्म्य (व्यक्तिगत आत्मा का अभाव) और धर्म नैरात्म्य (वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व का अभाव) दोनों को स्वीकार करता है।

बौद्ध स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद) के मूल सिद्धांत

1. 'स्वसंवेदन': स्वतंत्र विज्ञानवाद का मूल सिद्धांत है स्वसंवेदन, अर्थात् चेतना की स्व–प्रकाशित प्रकृति। ज्ञान अपने आप का ज्ञान स्वयं में रखता है, बिना किसी बाहरी साधन की आवश्यकता के।

2. 'द्वैत अनपेक्ष': स्वतंत्र विज्ञानवाद में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत वास्तविक नहीं है। ज्ञान का विषय ज्ञान से अलग नहीं होता।

3. 'प्रमाण सिद्धांत': स्वतंत्र विज्ञानवाद में प्रमाण (वैध ज्ञान के साधन) के सिद्धांत पर विशेष बल दिया गया है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने केवल दो प्रमाणों को मान्यता दी है:

– प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष अनुभव)

– अनुमान (तर्क आधारित ज्ञान)

4. 'अपोह सिद्धांत': अपोह (निषेध द्वारा निर्धारण) का सिद्धांत स्वतंत्र विज्ञानवाद की मुख्य अवधारणा है। इसके अनुसार, सामान्य अवधारणाएँ स्वयं से भिन्न सभी वस्तुओं के निषेध द्वारा परिभाषित होती हैं।

5. 'क्षणभंगुरवाद': स्वतंत्र विज्ञानवाद में क्षणिकवाद (क्षण–क्षण परिवर्तन) का सिद्धांत महत्वपूर्ण है। सभी घटनाएँ क्षणिक हैं और निरंतर परिवर्तन की अवस्था में हैं।

भाग 3: दोनों विचारधाराओं के बीच प्रमुख अंतर

1. दार्शनिक दृष्टिकोण

'विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता)':

– तत्वमीमांसा पर अधिक जोर देता है (वास्तविकता की प्रकृति)

– मुख्य रूप से आलयविज्ञान और चित्त की केंद्रीयता पर केंद्रित है

– बाह्य जगत् को पूर्णतः मिथ्या मानता है

– त्रिस्वभाव सिद्धांत के माध्यम से वास्तविकता को समझाता है

'स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद)':

– ज्ञानमीमांसा पर अधिक जोर देता है (ज्ञान प्राप्ति के साधन)

– मुख्य रूप से स्वसंवेदन और प्रमाण सिद्धांत पर केंद्रित है

– बाह्य जगत् के अस्तित्व को पूर्णतः नहीं नकारता, लेकिन इसे ज्ञान से स्वतंत्र नहीं मानता

– अपोह सिद्धांत के माध्यम से अवधारणाओं के निर्माण को समझाता है

2. आलयविज्ञान की अवधारणा

'विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता)':

– आलयविज्ञान की अवधारणा केंद्रीय है

– आलयविज्ञान को संस्कारों का भंडार मानता है

– आठ प्रकार के विज्ञानों का वर्णन करता हैः पाँच इंद्रिय विज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनस और आलयविज्ञान

'स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद)':

– आलयविज्ञान की अवधारणा पर कम जोर देता है

– स्वसंवेदन की अवधारणा को अधिक महत्व देता है

– प्रवृत्ति विज्ञान (व्यवहारिक ज्ञान) और प्रत्यक्ष ज्ञान पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है

3. प्रमाण सिद्धांत

'विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता)':

– प्रमाण सिद्धांत पर विशेष जोर नहीं देता

– आध्यात्मिक अनुभव और ध्यान पर अधिक बल देता है

– प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के बीच स्पष्ट विभेद नहीं करता

'स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद)':

– प्रमाण सिद्धांत इसका मूल आधार है

– केवल दो प्रमाणों को मान्यता देता हैः प्रत्यक्ष और अनुमान

– प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्पक (कल्पना से रहित) और अनुमान को सविकल्पक (कल्पना सहित) मानता है

4. भाषा और अवधारणाओं की व्याख्या

'विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता)':

– भाषा और अवधारणाओं के सिद्धांत पर विशेष ध्यान नहीं देता

– वासना (मानसिक संस्कार) को महत्वपूर्ण मानता है

– त्रिस्वभाव सिद्धांत के माध्यम से वास्तविकता की व्याख्या करता है

'स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद)':

– अपोह सिद्धांत (निषेध द्वारा निर्धारण) के माध्यम से भाषा और अवधारणाओं की व्याख्या करता है

– सामान्य धारणाओं (सामान्य लक्षण) के निर्माण पर विशेष ध्यान देता है

– विशिष्ट (स्वलक्षण) और सामान्य (सामान्यलक्षण) के बीच भेद करता है

5. मोक्ष मार्ग

'विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता)':

– मोक्ष प्राप्ति के लिए आलयविज्ञान के परिवर्तन (आश्रय परावृत्ति) पर बल देता है

– ध्यान और योगिक अभ्यासों को महत्व देता है

– बोधिसत्व मार्ग का अनुसरण करता है

'स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद)':

– मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक् ज्ञान और प्रमाण पर बल देता है

– तर्क और विश्लेषण को महत्व देता है

– प्रज्ञा (विवेक) के विकास पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है

भाग 4: प्रमुख आचार्य और उनके योगदान

विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) के प्रमुख आचार्य

1. 'मैत्रेयनाथ (270–350 ईसवी)':

   – योगाचार सम्प्रदाय के संस्थापकों में से एक

   – "योगाचारभूमिशास्त्र" और "अभिसमयालंकार" के रचयिता

2. 'असंग (310–390 ईसवी)':

   – विज्ञानवाद के प्रमुख व्यवस्थापक

   – "महायानसंग्रह" और "अभिधर्मसमुच्चय" के रचयिता

– आलयविज्ञान की अवधारणा को विकसित किया

3. 'वसुबंधु (4थी–5वीं शताब्दी ईसवी)':

– असंग के छोटे भाई

– "विंशतिका" और "त्रिंशिका" के रचयिता

– विज्ञप्तिमात्रता सिद्धांत का व्यवस्थित प्रतिपादन किया

4. 'स्थिरमति (470–550 ईसवी)':

– वसुबंधु के शिष्य

– त्रिंशिका पर टीका लिखी

5. 'धर्मपाल (530–561 ईसवी)':

– विज्ञानवाद की आलंबन परीक्षा प्रकरण के रचयिता

– वसुबंधु के ग्रंथों पर टीकाएँ लिखीं

स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद) के प्रमुख आचार्य

1. 'दिङ्नाग (480–540 ईसवी)':

– स्वतंत्र विज्ञानवाद के संस्थापक

– "प्रमाणसमुच्चय" के रचयिता

– अपोह सिद्धांत का प्रतिपादन किया

– केवल दो प्रमाणों (प्रत्यक्ष और अनुमान) की स्थापना की

2. 'धर्मकीर्ति (600–660 ईसवी)':

– दिङ्नाग के सिद्धांतों का विस्तार किया

– "प्रमाणवार्तिक", "न्यायबिंदु", "हेतुबिंदु" और "संतानांतरसिद्धि" के रचयिता

– प्रत्यक्ष और अनुमान के सिद्धांतों को और विकसित किया

3. 'शांतरक्षित (725–788 ईसवी)':

– "तत्त्वसंग्रह" के रचयिता

– स्वतंत्र विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन का समन्वय किया

4. 'कमलशील (740–795 ईसवी)':

– शांतरक्षित के शिष्य

– "तत्त्वसंग्रहपंजिका" के रचयिता

– तत्त्वसंग्रह पर विस्तृत व्याख्या की

भाग 5: दोनों विचारधाराओं का दार्शनिक महत्व और प्रभाव

विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) का दार्शनिक महत्व

1. 'चित्त की प्रकृति का विश्लेषण': विज्ञानवाद ने चित्त की प्रकृति और उसके विभिन्न स्तरों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया, जिसमें आलयविज्ञान की अवधारणा विशेष महत्वपूर्ण है।

2. 'महायान बौद्ध दर्शन का विकास': विज्ञानवाद ने महायान बौद्ध दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, विशेष रूप से बोधिसत्व मार्ग की अवधारणा को विकसित करने में।

3. 'अद्वैतवादी दर्शन का प्रभाव': विज्ञानवाद ने भारतीय अद्वैतवादी दर्शन, विशेष रूप से अद्वैत वेदांत पर गहरा प्रभाव डाला।

4. 'वज्रयान बौद्ध धर्म का विकास': विज्ञानवाद तिब्बती वज्रयान बौद्ध धर्म के विकास का आधार बना।

स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद) का दार्शनिक महत्व

1. 'प्रमाण शास्त्र का विकास': स्वतंत्र विज्ञानवाद ने भारतीय प्रमाण शास्त्र (ज्ञान की तार्किक व्याख्या) के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2. 'भाषा और अर्थ का सिद्धांत': अपोह सिद्धांत के माध्यम से स्वतंत्र विज्ञानवाद ने भाषा और अर्थ के संबंध की अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की।

3. 'आधुनिक भाषा दर्शन पर प्रभाव': अपोह सिद्धांत आधुनिक भाषा दर्शन और संरचनावाद से कई बिंदुओं पर समानता रखता है।

4. 'तिब्बती बौद्ध दर्शन पर प्रभाव': स्वतंत्र विज्ञानवाद ने तिब्बती बौद्ध दर्शन, विशेष रूप से न्याय और प्रमाण सिद्धांतों पर गहरा प्रभाव डाला।

भाग 6: समकालीन संदर्भ में दोनों विचारधाराओं की प्रासंगिकता

विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) की समकालीन प्रासंगिकता

1. 'मनोविज्ञान और न्यूरोसाइंस': विज्ञानवाद की चेतना और अवचेतन मन की अवधारणाएँ आधुनिक मनोविज्ञान और न्यूरोसाइंस के साथ अनेक बिंदुओं पर समानता रखती हैं।

2. 'फेनोमेनोलॉजी': विज्ञानवाद हसर्ल और मेर्लो–पोंटी जैसे फेनोमेनोलॉजिस्ट्स के विचारों से समानता रखता है, विशेष रूप से चेतना के अनुभव के विश्लेषण में।

3. 'वर्चुअल रियलिटी और सिम्युलेशन थ्योरी': विज्ञानवाद का यह विचार कि बाह्य जगत् चित्त की अभिव्यक्ति है, आधुनिक वर्चुअल रियलिटी और सिम्युलेशन थ्योरी की अवधारणाओं से तुलनीय है।

स्वतंत्र विज्ञानवाद (स्वतंत्र विज्ञप्तिवाद) की समकालीन प्रासंगिकता

1. 'भाषा विज्ञान और सेमेंटिक्स': अपोह सिद्धांत आधुनिक भाषा विज्ञान और सेमेंटिक्स के क्षेत्र में अत्यंत प्रासंगिक है।

2. 'ज्ञान का सामाजिक निर्माण': स्वतंत्र विज्ञानवाद का विचार कि अवधारणाएँ निषेध द्वारा निर्मित होती हैं, ज्ञान के सामाजिक निर्माण के आधुनिक सिद्धांतों से समानता रखता है।

3. 'कृत्रिम बुद्धिमत्ता और मशीन लर्निंग': स्वतंत्र विज्ञानवाद के प्रमाण सिद्धांत और तार्किक विश्लेषण कृत्रिम बुद्धिमत्ता और मशीन लर्निंग के क्षेत्र में उपयोगी अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

12.10 बोध प्रश्न

1. विज्ञानवाद से आप क्या समझते हैं?
2. स्वतंन्त्र विज्ञानवाद से आप क्या समझते हैं?
3. विज्ञानवाद एवं स्वतंन्त्र विज्ञानवाद में अंतर स्पष्ट कीजिए।

12.11 उपयोगी पुस्तकें

1. "बौद्ध दर्शन का इतिहास" – डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार
2. "बौद्ध दर्शनः एक परिचय" – डॉ. एन.एस.एस. रमण
3. "The Central Philosophy of Buddhism" & T-R-V- Murti
4. "बौद्ध धर्म और दर्शन" – डॉ. रामशरण शर्मा
5. "निर्वाणः बौद्ध दर्शन की अंतिम स्थिति" – डॉ. एस.एन. दासगुप्ता

इकाई– 13

विज्ञानवाद परिणाम : आलय विज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान

इकाई की रूपरेखा–

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 विज्ञानवाद

13.3 स्वतंत्र विज्ञानवाद

13.4 आलोचना

13.5 निष्कर्ष

13.6 सारांश

13.7 प्रश्न बोध

13.8 उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

इस स्वाध्याय सामग्री के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

1. बौद्ध दर्शन के विज्ञानवादी सिद्धांत के विकास और उसके दार्शनिक आधारों का परिचय देना।
2. महायान बौद्ध परंपरा में योगाचार/विज्ञानवाद के महत्व को समझाना।
3. विज्ञानवाद के मुख्य प्रतिपादकों (वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति) के योगदान का विश्लेषण।
4. बौद्ध विज्ञानवाद के प्रमुख सिद्धांतों (आलयविज्ञान, त्रिस्वभाव, निराकारवाद) की व्याख्या करना।
5. बौद्ध विज्ञानवाद के प्रमाणशास्त्रीय और तत्त्वमीमांसीय पक्षों की समीक्षा करना।
6. बौद्ध विज्ञानवाद की आलोचनाओं और उनके प्रत्युत्तरों का विवेचन करना।
7. समकालीन दर्शन और मनोविज्ञान के संदर्भ में बौद्ध विज्ञानवाद की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालना।

13.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन के हीनयान सम्प्रदाय के सर्वास्तिवाद के जड़त्व का खण्डन करके महायान का योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानवाद की स्थापना करता है। विज्ञानवाद लौकिक प्रत्यक्ष में निहित जड़द्रव्य का खण्डन करके विज्ञान को ही एकमात्र सत् मानते हैं। सौत्रान्तिकों की इस मान्यता को विज्ञानवादी स्वीकार करते हैं कि विज्ञान का अस्तित्व है, किन्तु बाह्य वस्तु की सत्ता है, इस मत का खण्डन कर देते हैं।

13.2 विज्ञानवाद

विज्ञानवादियों के अनुसार यदि प्रत्यक्ष ही हमारे ज्ञान के विषय हैं तब जड़ द्रव्यों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यह जड़ द्रव्य हमारे प्रत्ययों के कारण या आधार नहीं हैं क्योंकि जो जड़ है वह निष्क्रिय है और निष्क्रियता में यह क्षमता नहीं है कि वह एक भी प्रत्यय उत्पन्न कर सके। अर्थात् प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब या छाया नहीं है बल्कि वे साक्षात् वस्तु हैं। इस मान्यता के आधार पर विज्ञानवादी बाह्य जगत् के जड़ द्रव्य का खण्डन करते हैं।

यदि विज्ञान ही एकमात्र सत् है तो हम बाह्य जगत् की सत्ता किस रूप में स्वीकार करते हैं। इस पर विज्ञानवादियों का मत् है कि बाह्य जगत् की सत्ता मूलतः तीन रूपों में स्वीकार की जाती है। प्रथम द्रव्य गुण के रूप में द्वितीय अंश–अंशी के रूप में, तृतीय परमाणु संद्यात के रूप में।

विज्ञानवादियों के अनुसार द्रव्य–गुण के रूप में बाह्य जगत् नहीं हो सकता क्योंकि हमें केवल गुणों का ही ज्ञान प्राप्त होता है, द्रव्य का नहीं और गुण स्पष्ट रूप से यांत्रिक धर्म है। अतएव वस्तुओं को गुणपर्याययुक्त भौतिक द्रव्य मानना असंगत है। इस प्रकार बाह्य जगत् को अंश–अंशी के रूप में स्वीकार किया जाए तो प्रश्न उठता है कि वह अंश से भिन्न है या अभिन्न। यदि वह भिन्न है तब अंशी उसको उत्पन्न नहीं करेगा क्योंकि असत् से सत् का आविर्भाव नहीं हो सकता और यदि दोनों अभिन्न हैं। तो अंशी–अंश का भेद ही समाप्त हो जाएगा। पुनः यदि हम बाह्य जगत् को परमाणु संघात से रूप में स्वीकार करते हैं तब उनके मध्य सम्बन्ध की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। उनके परमाणु निरअवयव रहित अविभाज्य एवं अति सूक्ष्म हैं। इसलिए वसुबन्धु कहते हैं कि परमाणु संघात को स्वीकार करने पर इनके मध्य संबन्ध की समस्या उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि अवयवरहित परमाणु से परमाणु संघात नहीं बन सकता, साथ ही इनमें विस्तार नहीं हो सकता है। पुनः जब हम परमाणु को नहीं देख सकते हैं तो उन परमाणुओं के संयोग एवं संघात की सिद्धि नहीं हो सकती। इस कारण विज्ञानवादी किसी भी रूप में बाह्य जगत् को स्वीकार नहीं करते।

जड़ द्रव्य का खण्डन करने के साथ ही विज्ञानवादी विज्ञानों की एक मात्र सत्ता सिद्ध करने के लिए सहोपलम्भ नियम का सहारा लेते हैं। जिसके अनुसार ज्ञान व विषय की उत्पत्ति साथ–साथ होती है। जैसे –नीला रंग और नीले रंग का ज्ञान इन दोनों की उत्पत्ति सदैव एक साथ रहती है।

सहोपलम्भ नियमाद्, भेदोनीलतद्वियोः।।

पुनः आचार्य दिङ्गनाग आलम्बन परीक्षा में कहते हैं कि जो हमारे अन्तः चौतन्य में है वही बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होता है।

यदत्तर्ज्ञेयरूपं, तद्वहिर्वदवभासते।।

इस प्रकार विज्ञानवादी विज्ञान या चेतना को ही एकमात्र सत्य मानते हैं। यहां समस्या है कि यदि विज्ञान ही सत् है तब उससे जड़ द्रव्य की उत्पत्ति कैसे सम्भव है। विज्ञानवादियों के अनुसार यद्यपि विज्ञान या विज्ञप्ति ही एकमात्र सत् है तथापि अनादि अविद्या के कारण यह आलय विज्ञान, मनोविज्ञान एवं विषय विज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होता है। सर्वप्रथम विज्ञान या चेतना की उत्पत्ति आलय विज्ञान में होती है। यहां समस्त ज्ञान तथा धर्म

विद्यमान रहता है। इस प्रकार आलय विज्ञान के दो कार्य है – प्रथम, सभी विज्ञानों को संचित रखना एवं द्वितीय आवश्यकता पड़ने पर बाह्य रूप में प्रक्षेपण करना।

आलय विज्ञान में मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में आलय विज्ञान से विज्ञानों की व्यवस्थित उत्पत्ति होने के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति जगत् में होती है। यहां आलय विज्ञान उत्प्रेरक का कार्य करता है। मनोविज्ञान में सभी प्रकार के क्लेशों जैसे– आत्मक्लिष्टि, आत्मज्ञान, आत्ममोह आदि का प्रारम्भ यहीं से होता है इसलिए इसे क्लिष्ट मनोविज्ञान भी कहते हैं। उल्लेखनीय है कि विषय और विषयि के द्वैत से आलय विज्ञान मुक्त होता है। इसकी उत्पत्ति मनोविज्ञान में होती है।

मनोविज्ञान से विषय विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसका कारण मनोविज्ञान में अहं भाव का जुड़ना है। इसके परिणामस्वरूप विषय विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके छः भाग माने गये हैं। मन विज्ञान से हमें सुख –दुःख की अनुभूति होती है। चक्षु विज्ञान से रूप की उत्पत्ति होती है। घ्राण विज्ञान से गन्ध की उत्पत्ति होती है। रसना विज्ञान से रस की उत्पत्ति एवं त्वक् विज्ञान से स्पर्श की अनुभूति होती है तथा श्रुत विज्ञान से शब्द की अनुभूति होती है। इस क्रम में मन विज्ञान से आन्तरिक अनुभूतियों, सुख–दुःख आदि का अनुभव होता है।

उपर्युक्त विज्ञानवादियों की व्याख्या पर वस्तुवादियों का मत है कि बाह्य जगत् सत् है क्योंकि इसमें देश नियम, काल नियम, संतान नियम (कार्यकारण नियम) एवं अर्थक्रियाकारित्व पाया जाता है। यह चौतन्य में कैसे सम्भव है? यहां विज्ञानवादियों का स्पष्टीकरण है कि सभी चेतना में ही सम्भव है। चेतना में घटित घटना किसी न किसी देश–काल में होती है एवं उसमें भी संतान नियम पाया जाता है। यही नहीं चेतन अवस्था में अर्थ क्रिया कारित्व का गुण भी विद्यमान रहता है। जैसे – स्वप्न में भय से पसीना आना।

विज्ञानवादियों की इस व्याख्या पर वस्तुवादियों का मत है कि स्वप्न की घटनाएं अल्पकालिक होती हैं, जबकि व्यावहारिक जगत् की घटनायें स्थाई होती हैं। इस पर विज्ञानवादियों का मत है कि स्वप्न के पदार्थ क्लिष्ट मनोविज्ञान से आते हैं जबकि बाह्य जगत् के विज्ञान समष्टि रूप आलय विज्ञान से आते हैं इसलिए दोनों के बीच स्थायित्व में अन्तर होता है।

अपनी इस मान्यता के आधार पर विज्ञानवादी तीन प्रकार की सत्ताएं स्वीकार करते हैं जिन्हें क्रमशः परिकल्पित, परतंत्र, परिनिष्पन्न कहते हैं। उनके अनुसार परिकल्पित एवं परतंत्र सत्ता सत् नहीं है बल्कि परिनिष्पन्न रूपी विज्ञान की सत्ता ही एकमात्र सत् है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह आभास मात्र है। वसुबन्धु के अनुसार वास्तविक सत्ता चित्त या विज्ञप्ति मात्रता ही है और इसके सन्दर्भ में ही अन्य वस्तुओं की अवास्तविकता का ज्ञान होता है।

उल्लेखनीय है कि स्वतंत्र विज्ञान–वादियों द्वारा बाह्यार्थ खण्डन हेतु एवं विज्ञानमात्र के प्रतिपादन हेतु प्रायः उन्हीं तर्कों का प्रयोग किया गया है जो वसुबन्धु आदि विज्ञानवादियों के यहाँ भी हैं। वसुबन्धु ने त्रिशिंका में त्रिविध विज्ञानपरिणाम (आलयविज्ञान, मनोविज्ञान एवं षट्विध प्रवृत्ति विज्ञान) का विस्तृत वर्णन किया है। स्वतंत्र विज्ञानवादियों की रुचि आलयविज्ञान में नहीं है। उन्होंने उसके उन्हीं अंशों को ग्रहण किया है जिनमें क्षणिक विज्ञान और वासनाओं का परस्पर उत्पाद – विनाश प्रवाह सिद्ध किया जा सके। वस्तुतः स्वतंत्र विज्ञानवादियों की

विशेष अभिरुचि बौद्ध तर्कशास्त्र एवं क्षणभङ्गवाद के प्रतिपादन में रही है तथा नैयायिकों एवं मीमांसकों के खण्डन में रही है। इनका आग्रह विज्ञानमात्र के क्षणिकत्व एवं अर्थक्रिया सामर्थ्य पर है जिसका इन्होंने बार–बार प्रतिपादन किया है। आचार्य वसुबन्धु के नित्य निरपेक्ष परम तत्व के अर्थ में विज्ञानमात्र या विज्ञप्तिमात्र इन्हें अभीष्ट नहीं है। स्वतंत्र विज्ञानवाद के लिए क्षणिक विज्ञान ही परमार्थ सत् स्वलक्षण है और इन क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञानों का उत्पाद – विनाश – प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। मूलविज्ञानवाद के आचार्य मैत्रेय नाथ, असंग, वसुबन्धु आदि ने विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र के लिए जिन पदों का प्रयोग किया है उनमें नित्य' शब्द के अतिरिक्त प्रायः सभी पदों का प्रयोग स्वतंत्र विज्ञानियों ने क्षणिक विज्ञान के लिए किया है। क्षणिक विज्ञान परमार्थतः निराभास, निराकार, अद्वय, निर्विकल्प, ग्राह्यग्राहक वासनारहित, द्वयशून्य,निर्मल, प्रकृति–प्रभास्वर, अनभिलाप्य, अनिर्वचनीय, प्रत्यात्मेवध स्वरुप और स्वप्रकाश है। संवृत्ति दशा में क्षणिक विज्ञान, ग्राह्यग्राहक वासना के कारण साकार (अर्थाकार) और समल प्रतीत होता है। मल आगन्तुक हैं। कर्म–क्लेश वासना या अविद्याजन्य हैं एवं अविद्या के निरोध से इनका भी 'निरोध हो जाता है। विज्ञानवाद के ये सब सिद्धान्त स्वतंत्र–विज्ञानवाद को भी मान्य है किंतु इन्होंने इनका प्रयोग, विशुद्ध नित्य अद्वय विज्ञप्तिमात्र तत्व को ठुकरा कर तथा क्षणिक विज्ञान को परमतत्व पद पर अभिषिक्त करके, उससे क्षणिक विज्ञान के लिए ही किया है। इसीलिए यह दर्शन मूलविज्ञानवाद के नित्य निरपेक्षवाद से हटकर अनेक क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह बन गया है। संवृत्ति में क्षणिक विज्ञानों का निरन्तर आश्रव या प्रवाह अविद्या से प्रारम्भ होकर जन्म–मरण–चक्र में, दुःख रुपी प्रतीत्य समुत्पाद चक्र में चलता रहता है। परमार्थ में विद्या द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर क्षणिक विज्ञानों का यह प्रवाह विद्या से प्रारम्भ होकर निर्मल विज्ञानप्रवाह के रूप में निरन्तर चलता रहता है।

दिङ्नाग ने अपनी पुस्तक 'आलम्बन परीक्षा' में कहा है कि तथाकथित बाह्य अर्थ असत् हैं क्योंकि वे विज्ञान के अन्तर्गत उसके ग्राह्य भाग के रूप में विद्यमान हैं और विज्ञान के लिए आलम्बन–प्रत्यय भी हैं। अन्तर्ज्ञेय रूप का ही बहिर्वत अवभास होता है। ज्ञाता विज्ञान का ग्राह्य भाग है और ज्ञेय ग्राह्य भाग। दोनों विज्ञान स्वरूप हैं।

यदन्तर्ज्ञेयरुपं तद् बहिर्वदव भासते ।

सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्यतयापि च (आलम्बन परीक्षण)

प्रत्ययोऽव्यभिचारित्वात् सह शक्तयर्पणात् क्रमात्।

सहकारिवशाद यध्दि शक्तिरूपं तदिन्द्रियम् ॥

(आलम्बन परीक्षण)

शान्तरक्षित और कमलशील का कथन है कि ज्ञान को चाहे निराकार माना जाए, चाहे साकार और चाहे अन्याकार (अर्थाकार से भिन्न आकार वाला), ज्ञान कभी बाह्य अर्थ को नहीं जानता और न उसे बाह्य अर्थ या व्यापार की कभी कोई अपेक्षा हो सकती है। ज्ञान सदा अपना ही ज्ञान करता है। ज्ञान अर्थसंविति है अर्थात् जिस अर्थ का ज्ञान होता है। वह ज्ञान का आकार या अंश है, अर्थ कभी विज्ञानबाह्य नहीं हो सकता। विज्ञान–भेद अर्थ–भेद के कारण नहीं है, अपितु कर्म–संस्कार या वासना के भेद के कारण है। विज्ञान स्वरूपतः अद्वय, अर्थात् ग्राह्यग्राहकद्वयशून्य है तथा अविभाग है क्योंकि वह वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक भागों में विभाजित नहीं होता है

तथापि अनादि अविद्या या वासना के कारण विज्ञान ग्राह्य ग्राहकभेदवान सा प्रतीत होता है। यह भेद अविद्या–कल्पित है, बुद्धि विकल्पजन्य है, मिथ्या है। विज्ञान स्वभाव से निर्मल एवं स्वप्रकाश है, समस्त मल अविद्या के कारण आते हैं प्रभास्वरमिदं चितं प्रकृत्याङ्गन्तवो मलाः ।

13.3 स्वतंत्र – विज्ञानवादी स्वयं को निराकार–

विज्ञानवादी मानते हैं। विज्ञान वस्तुतः निराकार, अनिर्भास निर्विकल्प हैं। वह अविद्या के कारण अर्थाकार प्रतीत होता है। विज्ञान स्वसंवेद्य है। स्वसंवित्ति का अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान स्वयं को विषय के रूप में जानता है अथवा विज्ञान कारक है और स्वसंवेदन उसकी क्रिया है। स्वसंवित्ति में ग्राह्यग्राहक भाव या कारक – क्रिया–भाव नहीं है।

क्रियाकारकभावेन न स्वसम्वितिरस्य तु ।

स्वसंवेदन का अर्थ विज्ञान की स्वाभाविक स्वप्रकाशता है विज्ञान अजड़ या चेतन रूप से उत्पन्न होता है। अतः उसकी अजड़ स्वरुपता ही उसकी स्वसंवित्ति है।

विज्ञानं जड़रुपभ्यो व्यावृत्तमुपजायते
इयमेवात्मसम्वितिरस्य याद जड़रुपता ।

(तत्व संग्रह)

जब क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण का क्षय हो जाता है, जब सविकल्प बुद्धि निर्विकल्प प्रज्ञा में परिणत हो जाती है, तब अद्वय, स्वप्रकाश विज्ञानमात्र परमार्थ सत् का साक्षात्कार होता है। यही बुद्धत्व की प्राप्ति है । यह मुक्ति सर्वज्ञतत्व की प्राप्ति है।

सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितं ।

(तत्व संग्रह)

बौद्ध विज्ञानवादियों के समान ही पाश्चात्य दर्शन में अनुभववादी दार्शनिक बर्कले जड़ द्रव्य का खण्डन करके ''सत्ता दृश्यता है' सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु जहां एक ओर विज्ञानवादी विज्ञान के अतिरिक्त आत्मा एवं जगत् दोनों को अवास्तविक कहते हैं, वहीं दूसरी ओर बर्कले आत्मा को सत् मानते हैं। साथ ही वे विज्ञानों के सृष्टा एवं प्रत्यक्षकर्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार निरपेक्ष प्रत्ययवादी दार्शनिक हेगल भी स्वलक्षण वस्तुओं का (मूल द्रव्य) खण्डन करके कहते हैं कि सत् बौद्धिक है एवं बौद्धिक ही सत् है। दार्शनिक फिक्टे मानते हैं कि निरपेक्ष सत् अपने आपको सीमित कर जड़ एवं चेतन के रूप में अभिव्यक्त करता है। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर फिक्टे सन्तोष जनक नहीं देते है कि ऐसा क्यों है? जबकि विज्ञानवादी चेतना से जड़ की उत्पत्ति के लिए अनादि अविद्या को उत्तरदायी मानते हैं।

13.4 आलोचना –

बौद्धों के विज्ञानवाद पर शंकराचार्य की आपत्ति है यदि कि आत्मिक चेतना ही बाह्य जगत् के रूप में अभिव्यक्ति होती है तो मैं विज्ञान वादियों से यह आग्रह करता हूँ कि वह किसी प्राचीर पर सिंह के दर्शन करायें। तात्पर्य है कि हमें बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि होती है अतः उनके अनस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। शंकर के अनुसार विज्ञानवादी भोजन करते हैं संतुष्ट होते हैं फिर भी कहते हैं न भोजन किया न संतुष्ट हुए।

शंकर मानते हैं कि विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं की सत्ता स्वयं सिद्ध करते हैं यदि हमारे आन्तरिक विज्ञान बाह्य वस्तु के समान दिखाई देते हैं तब वे प्रकारान्तर में स्वीकार कर लेते हैं कि बाह्य वस्तु अवश्य है। जिसके समान हमारे विज्ञान हैं।

पुनः शंकराचार्य के अनुसार वस्तु की अनुभूति होना और इसके अस्तित्व का ज्ञान होना, दोनों एक साथ होता है। इस आधार पर वस्तु की सत्ता को अस्वीकार करना ठीक नहीं है। आलोचक सहोपलम्भ नियम में कोटिगत् दोष मानते हैं। इस नियम में ज्ञान और उसका विषय अर्थात् जड़ पदार्थ और उसका ज्ञान दो अलग–अलग कोटियां हैं। दोनों की परस्पर तुलना करना अथवा दोनों को एक मानना तार्किक नहीं है।

पुनश्च स्वप्न की वस्तुएं व्यक्तिगत हैं किन्तु जागृत जगत् की वस्तुएं सार्वभौमिक होती हैं। अतः दोनों को एक काटि में नहीं रखा जा सकता। कुमारिल के अनुसार स्वप्नावस्था के ज्ञान और जागृत अवस्था के ज्ञान में अन्तर होता है।

विज्ञानवादियों का विज्ञान क्षणिक एव सापेक्ष है जो अन्य की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार किसी अन्य पर आधारित होने से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। यदि विज्ञानवादियों के आलय विज्ञान को स्थाई माना जाये जो क्षणिकवाद खण्डित हो जायेगा।

उपर्युक्त कमियों के कारण शंकराचार्य विज्ञानवाद को सर्वथा असंगत घोषित करते हैं तथापि, मूल बौद्ध दर्शन के तात्विक चिन्तन को विकसित करके सत्ता का स्थान बाह्य जगत् से हटाकर मनुष्य के मानस जगत् में केन्द्रित करना विज्ञान वादियों का प्रशंसनीय कार्य है। उनकी व्याख्या में आलय विज्ञान एवं तीन प्रकार की सत्ताएं बौद्ध दर्शन को तार्किक निष्कर्ष तक पंहुचाने के लिए पर्याप्त हैं।

13.5 सारांश

बौद्ध दर्शन और विज्ञानवाद का उद्भव

बौद्ध दर्शन का विकास सिद्धार्थ गौतम (बुद्ध) के ज्ञानोदय से प्रारंभ होता है। उनके मूल उपदेशों से निकली हुई विभिन्न परंपराओं में महायान बौद्ध दर्शन एक प्रमुख धारा है। महायान बौद्ध दर्शन की दो मुख्य शाखाएँ हैंः माध्यमिक और योगाचार। इनमें से योगाचार को ही विज्ञानवाद (Idealism) के नाम से भी जाना जाता है।

विज्ञानवाद का विकास ईसवी चौथी शताब्दी के आसपास मैत्रेयनाथ, असंग और वसुबंधु जैसे दार्शनिकों द्वारा किया गया। इस दर्शन का मूल तत्त्व यह है कि बाह्य जगत् केवल चित्त या विज्ञान का ही प्रतिबिंब है, स्वतंत्र रूप से विद्यमान नहीं है। 'विज्ञानमात्र' या 'चित्तमात्र' शब्द इसी अवधारणा को व्यक्त करते हैं।

बौद्ध विज्ञानवाद के ऐतिहासिक विकास

बौद्ध विज्ञानवाद का विकास निम्नलिखित चरणों में हुआः

प्रारंभिक बीजः' बुद्ध के समय से ही चित्त की प्रमुखता पर जोर दिया गया था। धम्मपद का प्रसिद्ध श्लोक "मनोपुब्बङ्गमा धम्मा" (मन ही सभी धर्मों का अग्रणी है) इसका प्रमाण है।

अभिधर्म कालः' अभिधर्म ग्रंथों में चित्त और चैतसिक धर्मों का विस्तृत विश्लेषण मिलता है, जिसमें विज्ञान के विभिन्न स्तरों की चर्चा है।

महायान का उदयः' महायान सूत्रों, विशेषकर प्रज्ञापारमिता और लंकावतार सूत्र में, बाह्य जगत् की शून्यता और चित्त की प्रधानता का विचार दिखाई देता है।

योगाचार का प्रतिष्ठापनः' मैत्रेयनाथ (3–4 शताब्दी ई.) और उनके शिष्य असंग (4–5 शताब्दी ई.) द्वारा इस विचारधारा को दार्शनिक आधार प्रदान किया गया। असंग के भाई वसुबंधु ने इसे और विकसित किया।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का योगदानः' इन दार्शनिकों ने प्रमाणमीमांसा के माध्यम से विज्ञानवाद को सुदृढ़ किया और प्रत्यक्ष व अनुमान के सिद्धांतों का विकास किया।

बौद्ध विज्ञानवाद के प्रमुख सिद्धांत

विज्ञप्तिमात्रताः' विज्ञानवाद के अनुसार, बाह्य जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है; सब कुछ केवल विज्ञान या चेतना की अभिव्यक्ति मात्र है। वसुबंधु के 'विंशतिका' में इस सिद्धांत का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

आलयविज्ञान की अवधारणाः' विज्ञानवाद में आठ प्रकार के विज्ञानों की कल्पना की गई है, जिनमें आलयविज्ञान (भंडार चेतना) सबसे महत्वपूर्ण है। यह सभी अनुभवों के बीजों (वासना) का भंडार है और संसार का आधार है।

त्रिस्वभाव सिद्धांतः' वस्तुओं के तीन स्वभाव माने गए हैंः

– परिकल्पित स्वभावः कल्पित या आरोपित स्वभाव

– परतंत्र स्वभावः कारण–कार्य के संबंधों पर आधारित

– परिनिष्पन्न स्वभावः यथार्थ या पूर्ण स्वभाव

चित्त–चित्तवृत्ति सिद्धांतः' चित्त (मन) और चित्तवृत्तियां (मानसिक प्रक्रियाएँ) अविभाज्य हैं, और यही वास्तविकता का आधार हैं।

विज्ञान परिणामः' चित्त सदैव परिवर्तनशील है और इसके परिणाम ही सम्पूर्ण अनुभव जगत् का निर्माण करते हैं।

प्रमुख विज्ञानवादी दार्शनिक और उनका योगदान

मैत्रेयनाथ (3–4 शताब्दी ई.)ः'

– योगाचार के संस्थापक माने जाते हैं

– 'योगाचारभूमि' के रचयिता

– पंचमार्ग, दशभूमि, त्रिकाय की अवधारणाओं का विकास

असंग (4–5 शताब्दी ई.)ः'

– मैत्रेयनाथ के शिष्य

– 'महायानसूत्रालंकार', 'अभिधर्मसमुच्चय' के रचयिता

– आलयविज्ञान के सिद्धांत का विस्तार

वसुबंधु (4–5 शताब्दी ई.):'

– असंग के छोटे भाई

– 'अभिधर्मकोश', 'विंशतिका', 'त्रिंशिका' के रचयिता

– विज्ञप्तिमात्रता का सुव्यवस्थित प्रतिपादन

दिङ्नाग (5–6 शताब्दी ई.):'

– बौद्ध प्रमाणशास्त्र के जनक

– 'प्रमाणसमुच्चय', 'आलम्बनपरीक्षा' के रचयिता

– स्वसंवेदन (आत्म–साक्षात्कार) और आकारवाद के सिद्धांतों का विकास

धर्मकीर्ति (7 शताब्दी ई.):'

– दिङ्नाग के प्रसिद्ध अनुयायी

– 'प्रमाणवार्तिक', 'न्यायबिंदु' के रचयिता

– अपोह सिद्धांत और सहोपलंभनियम का प्रतिपादन

बौद्ध विज्ञानवाद का प्रमाणशास्त्र

प्रमाण की अवधारणाः' बौद्ध विज्ञानवाद में प्रमाण का अर्थ है वैध ज्ञान या अविसंवादी ज्ञान। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अनुसार, केवल दो ही प्रमाण हैंः प्रत्यक्ष और अनुमान।

प्रत्यक्ष प्रमाणः' बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार, प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पनारहित और अभ्रांत होता है। यह चार प्रकार का होता हैः

– इन्द्रियज प्रत्यक्षः इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान

– मानस प्रत्यक्षः मन द्वारा प्राप्त ज्ञान

– स्वसंवेदन प्रत्यक्षः अपने ज्ञान का ज्ञान

– योगिज प्रत्यक्षः योगी का अतींद्रिय ज्ञान

अनुमान प्रमाणः' अनुमान दो प्रकार का होता हैः

– स्वार्थानुमानः स्वयं के लिए अनुमान

– परार्थानुमानः दूसरों के लिए अनुमान (इसमें पंचावयव न्याय का प्रयोग)

अपोह सिद्धांतः' सामान्य शब्दों का अर्थ नकारात्मक तरीके से निश्चित होता है। उदाहरण के लिए, 'गाय' शब्द का अर्थ है 'जो गाय नहीं है, उससे भिन्न'।

सहोपलंभनियमः' ज्ञान और ज्ञेय (जानने वाला और जाना जाने वाला) का एक साथ अनुभव होता है, अतः वे अभिन्न हैं।

बौद्ध विज्ञानवाद और अन्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

बौद्ध विज्ञानवाद और माध्यमिकः'

– माध्यमिक शून्यवाद पर जोर देता है, जबकि विज्ञानवाद चित्त की वास्तविकता पर

– माध्यमिक के अनुसार सभी धर्म (पदार्थ) शून्य हैं, जबकि विज्ञानवाद के अनुसार केवल बाह्य वस्तुएँ शून्य हैं, चित्त वास्तविक है

– नागार्जुन की चतुष्कोटि और विज्ञानवादियों की त्रिस्वभाव सिद्धांत में मौलिक अंतर

बौद्ध विज्ञानवाद और अद्वैत वेदांतः'

– दोनों में माया/अविद्या की अवधारणा है, लेकिन अद्वैत में ब्रह्म की वास्तविकता है, जबकि विज्ञानवाद में आलयविज्ञान या चित्त की

– अद्वैत में आत्मा/ब्रह्म नित्य है, जबकि विज्ञानवाद में चित्त क्षणिक है

– दोनों में ज्ञान को मोक्ष का मार्ग माना गया है

बौद्ध विज्ञानवाद और पाश्चात्य विज्ञानवादः'

– बर्कले का विज्ञानवाद ईश्वर पर आधारित है, जबकि बौद्ध विज्ञानवाद अनीश्वरवादी है

– कांट के प्रतिभासवाद और बौद्ध विज्ञानवाद के परिकल्पित स्वभाव में समानता

– हुसर्ल की फेनोमेनोलॉजी और बौद्ध स्वसंवेदन सिद्धांत में समानताएँ

बौद्ध विज्ञानवाद की आलोचनाएँ और प्रत्युत्तर

प्रमुख आलोचनाएँः'

– यदि बाह्य वस्तुएँ न हों, तो स्वप्न और जागृत अवस्था में अंतर कैसे?

– सामूहिक अनुभव कैसे संभव है?

– आलयविज्ञान की अवधारणा अनात्मवाद के विरुद्ध प्रतीत होती है

– क्षणिकवाद और चित्त की निरंतरता में विरोध

– प्रत्यक्ष प्रमाण की निर्विकल्पकता और सविकल्पकता का विरोध

विज्ञानवादियों के प्रत्युत्तरः'

– स्वप्न और जागृत अवस्था में वासनाओं की व्यवस्था का अंतर है

– सामूहिक अनुभव समान वासनाओं के कारण होता है

– आलयविज्ञान व्यक्तिगत आत्मा नहीं, बल्कि प्रवाहमय चेतना है

– क्षणिकवाद चित्त की निरंतरता को नकारता नहीं, बल्कि उसे गतिशील मानता है

– निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कल्पना नहीं होती, जबकि सविकल्पक में होती है

बौद्ध विज्ञानवाद के आध्यात्मिक और व्यावहारिक पक्ष

आध्यात्मिक दृष्टिकोणः'

– विज्ञानवाद के अनुसार, मोक्ष (निर्वाण) का मार्ग चित्त की प्रकृति को समझना है

– अष्टांग मार्ग और बोधिसत्त्व आदर्श के साथ विज्ञानवाद का समन्वय

– ध्यान और योगाभ्यास द्वारा आलयविज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव

व्यावहारिक पक्षः'

– चित्त की प्रमुखता के आधार पर नैतिक आचरण

– करुणा और प्रज्ञा के समन्वय का महत्त्व

– संसार को माया मानकर भी बोधिसत्त्व का कार्य करना

13.6 निष्कर्ष

बौद्ध विज्ञानवाद एक समृद्ध और गहन दार्शनिक परंपरा है जिसने भारतीय और विश्व दर्शन को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। चित्त की प्रमुखता, बाह्य जगत् की आभासिकता, आलयविज्ञान की अवधारणा, और प्रमाणशास्त्र के क्षेत्र में इसके योगदान ने इसे एक विशिष्ट स्थान दिलाया है।

विज्ञानवाद ने न केवल बौद्ध धर्म के भीतर निर्वाण प्राप्ति के मार्ग को समझने में सहायता की, बल्कि आधुनिक मनोविज्ञान, न्यूरोसाइंस, और क्वांटम भौतिकी जैसे क्षेत्रों के लिए भी प्रासंगिक अंतर्दृष्टि प्रदान की है।

बौद्ध विज्ञानवाद का अध्ययन न केवल ऐतिहासिक महत्त्व के कारण, बल्कि इसकी समकालीन प्रासंगिकता के कारण भी महत्त्वपूर्ण है। यह हमें मन, चेतना, और वास्तविकता के स्वरूप पर गहराई से विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

13.7 प्रश्न बोध

1. बौद्ध विज्ञानवाद के उद्भव और विकास पर एक निबंध लिखिए।

2. आलयविज्ञान की अवधारणा क्या है? यह किस प्रकार बौद्ध विज्ञानवाद का आधार बनती है?

3. त्रिस्वभाव सिद्धांत का विस्तार से वर्णन कीजिए और इसके माध्यम से वास्तविकता की व्याख्या कैसे की जाती है?

4. बौद्ध विज्ञानवाद के प्रमुख प्रतिपादक वसुबंधु के दार्शनिक योगदान पर प्रकाश डालिए।

5. "विज्ञप्तिमात्रमेवेदं नार्थो यद्वश्यते बहिः" – इस कथन के आलोक में बौद्ध विज्ञानवाद के मूल सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

6. बौद्ध विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन में क्या समानताएँ और अंतर हैं? विवेचना कीजिए।

7. बौद्ध विज्ञानवाद के प्रमाणशास्त्र की व्याख्या कीजिए और इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

8. सहोपलंभनियम और अपोह सिद्धांत क्या हैं और ये बौद्ध विज्ञानवाद के लिए कैसे महत्त्वपूर्ण हैं?

9. बौद्ध विज्ञानवाद की प्रमुख आलोचनाओं और उनके प्रत्युत्तरों का विश्लेषण कीजिए।

10. आधुनिक विज्ञान और दर्शन के संदर्भ में बौद्ध विज्ञानवाद की प्रासंगिकता पर एक निबंध लिखिए।

11. बौद्ध विज्ञानवाद और बर्कले के विज्ञानवाद की तुलना कीजिए।

12. क्या बौद्ध विज्ञानवाद अनात्मवाद के सिद्धांत के साथ संगत है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

13. बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार, स्वप्न और जागृत अवस्था के अनुभवों में क्या अंतर है? व्याख्या कीजिए।

14. आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में बौद्ध विज्ञानवाद की प्रासंगिकता पर चर्चा कीजिए।

15. बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार निर्वाण प्राप्ति का मार्ग क्या है? विवेचना कीजिए।

13.8 उपयोगी पुस्तकें

प्राथमिक स्रोत (संस्कृत / पाली / तिब्बती / अनुवाद)

1. 'विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' – वसुबंधु (अनुवादः स्वामी सत्यप्रज्ञ), प्रकाशकः सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ हायर तिबेटन स्टडीज, सारनाथ – वर्षः 2015

2. 'त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' – वसुबंधु (अनुवादः जगन्नाथ उपाध्याय), प्रकाशकः मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली – वर्षः 2010

3. 'अभिधर्मकोश' – वसुबंधु (अनुवादः सुबोध मिश्र), प्रकाशकः भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी – वर्षः 2012

4. 'प्रमाणसमुच्चय' – दिङ्नाग (अनुवादः किशोर कुमार चक्रवर्ती), प्रकाशकः संस्कृत कॉलेज, कोलकाता – वर्षः 2008

5. 'प्रमाणवार्तिक' – धर्मकीर्ति (अनुवादः रामचंद्र पांडेय), प्रकाशकः सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी – वर्षः 2018

6. 'लंकावतार सूत्र' (अनुवादः नरेन्द्र देव) प्रकाशकः मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली – वर्षः 2006

द्वितीयक स्रोत (हिंदी)

7. 'बौद्ध दर्शन मीमांसा', आचार्य नरेन्द्र देव, प्रकाशकः मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली – वर्षः 2018

8. 'बौद्ध दर्शन प्रदीप' – धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, प्रकाशकः बौद्ध भारती, वाराणसी, वर्षः 2013

9. 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' – एम. हिरियन्ना

इकाई – 14 त्रिस्वभाव एवं निर्वाण

इकाई की रूपरेखा–

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 त्रिस्वभाव और निर्वाणरू एक परिचय

14.3 त्रिस्वभाव का अर्थ और महत्व

14.4 त्रिस्वभाव की अवधारणा का विकास

14.4.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

14.4.2 योगाचार दर्शन का प्रभाव

14.4.3 माध्यमिक दर्शन से तुलना

14.5 त्रिस्वभाव के प्रकार

14.5.1 परिकल्पित स्वभाव

14.5.2 परतंत्र स्वभाव

14.5.3 परिनिष्पन्न स्वभाव

14.6 बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा

14.6.1 योगाचार विज्ञानवाद में निर्वाण की अवधारणा

14.7 त्रिस्वभाव और निर्वाण का संबंध

14.8 आधुनिक संदर्भ में त्रिस्वभाव और निर्वाण की प्रासंगिकता

14.9 निष्कर्ष

14.10 सारांश

14.11 प्रश्न बोध

14.12 उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य छात्रों को बौद्ध दर्शन के दो महत्वपूर्ण अवधारणाओं – त्रिस्वभाव और निर्वाण – से परिचित कराना है। यह इकाई छात्रों को इन जटिल विचारों को समझने, विश्लेषण करने और उनके बीच संबंध स्थापित करने में सक्षम बनाएगी। इसके माध्यम से छात्र बौद्ध दर्शन की गहराई को समझ सकेंगे और इसकी आधुनिक प्रासंगिकता पर विचार कर सकेंगे। इस इकाई का लक्ष्य छात्रों में आलोचनात्मक सोच और दार्शनिक विश्लेषण की क्षमता विकसित करना भी है। इसके अलावा, यह इकाई छात्रों को बौद्ध दर्शन के विभिन्न स्कूलों, विशेष रूप से योगाचार और माध्यमिक, के बीच तुलना करने में मदद करेगी। अंत में, यह इकाई छात्रों को प्राचीन बौद्ध अवधारणाओं और आधुनिक जीवन के बीच संबंध स्थापित करने के लिए प्रेरित करेगी, जिससे उन्हें इन विचारों की निरंतर प्रासंगिकता को समझने में मदद मिलेगी।

14.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन अपनी समृद्ध परंपरा और गहन अवधारणाओं के साथ मानव चिंतन को सदियों से प्रभावित करता रहा है। इस विशाल दार्शनिक प्रणाली में, त्रिस्वभाव और निर्वाण दो ऐसी अवधारणाएँ हैं जो विशेष महत्व रखती हैं। त्रिस्वभाव, जो वास्तविकता के तीन स्वरूपों को दर्शाता है, हमें यथार्थ को समझने का एक उपकरण प्रदान करता है। वहीं निर्वाण, जो बौद्ध साधना का चरम लक्ष्य है, दुःख से मुक्ति और परम ज्ञान की अवस्था को दर्शाता है। ये दोनों अवधारणाएँ न केवल बौद्ध दर्शन के मूल में हैं, बल्कि आपस में गहराई से जुड़ी हुई भी हैं। इस इकाई में, हम इन दोनों अवधारणाओं का गहन अध्ययन करेंगे, उनके ऐतिहासिक विकास को समझेंगे, और उनके बीच के संबंधों का विश्लेषण करेंगे। साथ ही, हम यह भी देखेंगे कि कैसे ये प्राचीन विचार आज के समय में भी प्रासंगिक हैं और हमारे जीवन को समृद्ध कर सकते हैं।

14.2 त्रिस्वभाव और निर्वाणरू एक परिचय

त्रिस्वभाव और निर्वाण बौद्ध दर्शन के दो मूलभूत स्तंभ हैं। त्रिस्वभाव , जिसका शाब्दिक अर्थ है तीन स्वभाव, वास्तविकता के तीन पहलुओं को दर्शाता है – परिकल्पित (कल्पित), परतंत्र (आश्रित), और परिनिष्पन्न (पूर्ण)। यह सिद्धांत हमें बताता है कि हम वास्तविकता को कैसे अनुभव करते हैं, कैसे उसे गलत समझते हैं, और कैसे उसके सच्चे स्वरूप को पहचान सकते हैं। दूसरी ओर, निर्वाण बौद्ध धर्म का परम लक्ष्य है। यह दुःख, अज्ञान, और पुनर्जन्म के चक्र से पूर्ण मुक्ति की अवस्था है। निर्वाण को प्रायरू शांति, मुक्ति, और परम ज्ञान के रूप में वर्णित किया जाता है। त्रिस्वभाव और निर्वाण एक दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं – त्रिस्वभाव की समझ निर्वाण प्राप्ति

का मार्ग प्रशस्त करती है। इस इकाई में, हम इन दोनों अवधारणाओं को विस्तार से समझेंगे, उनके ऐतिहासिक और दार्शनिक महत्व का विश्लेषण करेंगे, और देखेंगे कि वे आधुनिक जीवन में कैसे प्रासंगिक हो सकते हैं।

14.3 त्रिस्वभाव का अर्थ और महत्व

त्रिस्वभाव बौद्ध दर्शन, विशेषकर योगाचार परंपरा में, एक केंद्रीय अवधारणा है। यह सिद्धांत वास्तविकता के तीन स्तरों या स्वभावों को प्रस्तुत करता है। पहला है परिकल्पित स्वभाव, जो हमारी कल्पनाओं और गलत धारणाओं पर आधारित है। यह वह है जो हम वस्तुओं और अनुभवों पर आरोपित करते हैं, जो वास्तव में उनमें नहीं होता। दूसरा है परतंत्र स्वभाव, जो वस्तुओं और घटनाओं की परस्पर निर्भरता को दर्शाता है। यह बताता है कि सभी चीजें कारण और परिणाम के नियम से बंधी हैं। तीसरा है परिनिष्पन्न स्वभाव, जो वास्तविकता का यथार्थ स्वरूप है, जो किसी भी आरोपण या निर्भरता से मुक्त है। त्रिस्वभाव का महत्व इसमें निहित है कि यह हमें वास्तविकता को समझने और उसके साथ संवाद करने का एक ढांचा प्रदान करता है। यह हमें अपने अनुभवों और धारणाओं को गहराई से समझने में मदद करता है, और अंततः सत्य की ओर ले जाता है। बौद्ध साधना में, तिरस्वभाव की समझ निर्वाण प्राप्ति के मार्ग पर एक महत्वपूर्ण कदम माना जाता है।

14.4 त्रिस्वभाव की अवधारणा का विकास

त्रिस्वभाव की अवधारणा का विकास बौद्ध दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, हम देखते हैं कि यह विचार महायान बौद्ध धर्म के उदय के साथ विकसित हुआ। विशेष रूप से, योगाचार दर्शन ने इस अवधारणा को विस्तृत रूप दिया। योगाचार के प्रमुख विचारकों, जैसे असंग और वसुबंधु, ने तिरस्वभाव को अपने दार्शनिक सिद्धांतों का एक केंद्रीय भाग बनाया। उन्होंने इसे चित्तमात्र (केवल—मन) सिद्धांत के साथ जोड़ा, जो कहता है कि सभी अनुभव मूलतः मानसिक हैं। माध्यमिक दर्शन, जो शून्यता पर जोर देता है, के साथ तिरस्वभाव की तुलना भी महत्वपूर्ण है। जहां माध्यमिक सभी धर्मों (पदार्थों) की शून्यता पर बल देता है, वहीं तिरस्वभाव वास्तविकता के विभिन्न स्तरों को स्वीकार करता है। यह विकास बौद्ध दर्शन में वास्तविकता और अनुभव को समझने के विभिन्न दृष्टिकोणों को दर्शाता है। तिरस्वभाव की अवधारणा ने बाद के बौद्ध विचारकों और अन्य भारतीय दर्शनों को भी प्रभावित किया, जो इसकी व्यापक प्रासंगिकता को दर्शाता है।

14.4.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

त्रिस्वभाव की अवधारणा का विकास बौद्ध दर्शन के लंबे इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यह अवधारणा मुख्य रूप से महायान बौद्ध परंपरा में विकसित हुई, विशेष रूप से योगाचार स्कूल में। इसकी जड़ें बुद्ध के मूल शिक्षाओं में पाई जा सकती हैं, जहाँ उन्होंने वास्तविकता की प्रकृति और मानव अनुभव के बारे में गहन प्रश्न उठाए थे। प्राचीन भारत में, जब बौद्ध धर्म का प्रसार हो रहा था, विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ उभर रही थीं। इस समय के दौरान बौद्ध विद्वानों ने वास्तविकता की प्रकृति और मानव अनुभव को समझने के लिए नए सिद्धांतों और

अवधारणाओं को विकसित किया। त्रिस्वभाव की अवधारणा इसी प्रक्रिया का परिणाम थी। यह अवधारणा मुख्य रूप से पाँचवीं शताब्दी के आसपास अस्तित्व में आई, जब योगाचार स्कूल के प्रमुख दार्शनिक असंग और वसुबंधु ने इसे अपने लेखन में विस्तार से समझाया। यह समय बौद्ध दर्शन में गहन दार्शनिक चिंतन का था, जहाँ विद्वान वास्तविकता की प्रकृति और मानव अनुभव के बारे में गहराई से सोच रहे थे। त्रिस्वभाव की अवधारणा ने बौद्ध दर्शन में एक नया आयाम जोड़ा, जो वास्तविकता के तीन पहलुओं या श्स्वभावोंश की व्याख्या करता है। यह सिद्धांत बाद में बौद्ध दर्शन के विभिन्न स्कूलों द्वारा अपनाया और विकसित किया गया, जिसने इसे बौद्ध चिंतन का एक केंद्रीय सिद्धांत बना दिया।

14.4.2 योगाचार दर्शन का प्रभाव :

योगाचार दर्शन, जिसे विज्ञानवाद के नाम से भी जाना जाता है, त्रिस्वभाव की अवधारणा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह स्कूल मुख्य रूप से मन और चेतना की प्रकृति पर केंद्रित है, और इसने त्रिस्वभाव के सिद्धांत को अपने दर्शन का एक केंद्रीय तत्व बनाया। योगाचार दर्शन के अनुसार, हमारा अनुभव पूरी तरह से हमारे मन द्वारा निर्मित है। वे मानते हैं कि बाहरी दुनिया का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, बल्कि यह हमारे मन की एक प्रोजेक्शन है। इस संदर्भ में, तिरस्वभाव की अवधारणा वास्तविकता के तीन स्तरों या पहलुओं को समझाने का एक तरीका बन जाती है। योगाचार विद्वानों ने त्रिस्वभाव को मन की कार्यप्रणाली और वास्तविकता की हमारी समझ के विभिन्न स्तरों के रूप में व्याख्या की। उन्होंने इस अवधारणा को मुक्ति के मार्ग से जोड़ा, यह सुझाव देते हुए कि त्रिस्वभाव की समझ निर्वाण की प्राप्ति में महत्वपूर्ण है। योगाचार दर्शन ने त्रिस्वभाव की अवधारणा को एक व्यापक दार्शनिक ढांचे में एकीकृत किया, जो न केवल वास्तविकता की प्रकृति को समझाता है, बल्कि मुक्ति के मार्ग का भी वर्णन करता है। इस प्रकार, योगाचार ने त्रिस्वभाव को एक सैद्धांतिक अवधारणा से एक व्यावहारिक आध्यात्मिक उपकरण में बदल दिया।

14.4.3 माध्यमिक दर्शन से तुलना :

माध्यमिक दर्शन, जिसे शून्यवाद के नाम से भी जाना जाता है, बौद्ध दर्शन का एक अन्य प्रमुख स्कूल है। त्रिस्वभाव की अवधारणा की तुलना माध्यमिक दर्शन से करना दिलचस्प है, क्योंकि दोनों वास्तविकता की प्रकृति को समझने के अलग–अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। माध्यमिक दर्शन, जिसके प्रमुख प्रवर्तक नागार्जुन थे, का मुख्य सिद्धांत श्शून्यताश है। यह सिद्धांत कहता है कि सभी घटनाएँ स्वभाव से रहित हैं, यानी उनका कोई स्वतंत्र या स्थायी अस्तित्व नहीं है। यह दृष्टिकोण त्रिस्वभाव के सिद्धांत से अलग है, जो वास्तविकता के तीन पहलुओं या स्वभावों की बात करता है। हालांकि, दोनों सिद्धांत अंततः एक ही लक्ष्य की ओर इशारा करते हैं – वास्तविकता की सच्ची प्रकृति को समझना और दुःख से मुक्ति पाना। माध्यमिक दर्शन शून्यता के माध्यम से इस लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करता है, जबकि त्रिस्वभाव का सिद्धांत वास्तविकता के तीन स्तरों के माध्यम से इसे समझाता है। दोनों दर्शनों में समानताएँ भी हैं। दोनों ही मानते हैं कि हमारा सामान्य अनुभव भ्रामक है और

वास्तविकता की सच्ची प्रकृति को छिपाता है। दोनों ही इस भ्रम को दूर करने और सच्चाई को समझने पर जोर देते हैं।

14.5 त्रिस्वभाव के प्रकार

त्रिस्वभाव के तीन प्रकार – परिकल्पित, परतंत्र, और परिनिष्पन्न – वास्तविकता के तीन स्तरों को दर्शाते हैं। परिकल्पित स्वभाव वह है जो हम अपनी कल्पना या विचारों से आरोपित करते हैं। यह हमारी गलत धारणाओं और भ्रामक विचारों को दर्शाता है। उदाहरण के लिए, रस्सी को सांप समझना परिकल्पित स्वभाव का उदाहरण है। परतंत्र स्वभाव वह है जो दूसरों पर निर्भर है, यह कारण और प्रभाव के नियम से संचालित होता है। यह हमारे दैनिक अनुभवों का स्तर है, जहां सभी चीजें एक दूसरे पर निर्भर हैं। जैसे, एक पेड़ की उपस्थिति मिट्टी, पानी, सूर्य प्रकाश आदि पर निर्भर है। परिनिष्पन्न स्वभाव वास्तविकता का सच्चा स्वरूप है, जो किसी भी आरोपण या निर्भरता से मुक्त है। यह शून्यता या तथता की अवस्था है, जहां चीजों को उनके यथार्थ रूप में देखा जाता है। बौद्ध साधना का लक्ष्य परिकल्पित से परतंत्र और अंततः परिनिष्पन्न स्वभाव की ओर बढ़ना है, जो निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है।

14.5.1 परिकल्पित स्वभाव :

परिकल्पित स्वभाव तिरस्वभाव सिद्धांत का पहला पहलू है। यह वास्तविकता का वह स्तर है जो हमारे दैनिक अनुभव में सबसे अधिक प्रत्यक्ष है, लेकिन वास्तव में सबसे भ्रामक भी है। इसे कल्पित या आरोपित स्वभाव भी कहा जाता है। परिकल्पित स्वभाव वह है जिसे हम अपने इंद्रियों और मन के माध्यम से अनुभव करते हैं। यह दुनिया का वह रूप है जिसे हम देखते, सुनते, महसूस करते और सोचते हैं। इसमें हमारे द्वारा वस्तुओं और अनुभवों पर आरोपित सभी गुण, विशेषताएं और मूल्य शामिल हैं। उदाहरण के लिए, जब हम एक फूल देखते हैं, तो हम उसे सुंदर या कुरूप, आकर्षक या अनाकर्षक के रूप में वर्गीकृत करते हैं। ये सभी गुण परिकल्पित स्वभाव का हिस्सा हैं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार, परिकल्पित स्वभाव वास्तविकता का एक भ्रामक दृष्टिकोण है। यह हमारी धारणाओं, विचारों और कल्पनाओं का परिणाम है, न कि वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप। यह स्वभाव हमें दुःख और भ्रम में फंसाए रखता है क्योंकि हम इसे ही वास्तविकता मान लेते हैं। परिकल्पित स्वभाव की समझ आध्यात्मिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है। इसे पहचानना और इससे परे देखना सीखना बौद्ध साधना का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह हमें यह समझने में मदद करता है कि हमारे अधिकांश दुःख और समस्याएं हमारी गलत धारणाओं और आरोपणों से उत्पन्न होती हैं, न कि वास्तविकता से।

14.5.2 परतंत्र स्वभाव :

परतंत्र स्वभाव त्रिस्वभाव सिद्धांत का दूसरा पहलू है। यह वास्तविकता का वह स्तर है जो परिकल्पित स्वभाव के पीछे छिपा हुआ है और जो वस्तुओं और घटनाओं के वास्तविक कार्य–कारण संबंधों को दर्शाता है। इसे आश्रित या सापेक्ष स्वभाव भी कहा जाता है। परतंत्र स्वभाव यह समझाता है कि सभी घटनाएँ और अनुभव परस्पर निर्भर हैं । यह बौद्ध धर्म के प्रतीत्य समुत्पाद (निर्भर उत्पत्ति) के सिद्धांत से मेल खाता है। इस दृष्टिकोण से कोई भी वस्तु या घटना स्वतंत्र रूप से मौजूद नहीं है, बल्कि अन्य कारकों के एक जटिल नेटवर्क का परिणाम है। उदाहरण के लिए, एक फूल का अस्तित्व मिट्टी, पानी, सूर्य की रोशनी और कई अन्य कारकों पर निर्भर करता है। इसी तरह, हमारे विचार और भावनाएँ भी विभिन्न बाहरी और आंतरिक स्थितियों का परिणाम हैं। परतंत्र स्वभाव इन सभी अंतर्संबंधों और निर्भरताओं को समझने से संबंधित है। परतंत्र स्वभाव की समझ हमें यह एहसास दिलाती है कि हमारे अनुभव केवल हमारी कल्पना का परिणाम नहीं हैं (जैसा कि परिकल्पित स्वभाव में होता है), बल्कि वे वास्तविक कारण–प्रभाव संबंधों पर आधारित हैं। हालांकि, यह अभी भी पूर्ण वास्तविकता नहीं है, क्योंकि यह अभी भी द्वैत पर आधारित है – यानी यह अभी भी विषय और वस्तु, कर्ता और क्रिया के बीच भेद करता है।

परतंत्र स्वभाव की समझ आध्यात्मिक विकास में महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें अपने अनुभवों के प्रति अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने में मदद करती है। यह हमें यह समझने में सहायता करता है कि हमारे कार्य और उनके परिणाम एक बड़े संदर्भ का हिस्सा हैं, जो हमें अधिक जिम्मेदार और संवेदनशील बनने के लिए प्रेरित करता है।

14.5.3 परिनिष्पन्न स्वभाव :

परिनिष्पन्न स्वभाव त्रिस्वभाव सिद्धांत का तीसरा और अंतिम पहलू है। यह वास्तविकता का सबसे गहरा और सबसे शुद्ध स्तर है, जिसे पूर्ण या परम स्वभाव भी कहा जाता है। यह वह स्तर है जहाँ सभी द्वैत और विभेद समाप्त हो जाते हैं। परिनिष्पन्न स्वभाव वास्तविकता की वह अवस्था है जो परिकल्पित और परतंत्र स्वभावों से परे है। यह शून्यता की पूर्ण समझ है, जहाँ न तो कोई स्थायी श्स्वश है और न ही कोई स्वतंत्र रूप से मौजूद वस्तुएँ। यह वह स्थिति है जहाँ सभी विभेद और द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं और केवल शुद्ध, अविभाज्य चेतना रह जाती है।

परिनिष्पन्न स्वभाव की अनुभूति बुद्धत्व की स्थिति है। यह वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति पूरी तरह से यथार्थ को समझ लेता है और सभी भ्रमों से मुक्त हो जाता है। इस स्तर पर, व्यक्ति न केवल यह समझता है कि सभी घटनाएँ परस्पर संबंधित हैं (जैसा कि परतंत्र स्वभाव में), बल्कि वह इस एकता का प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है। परिनिष्पन्न स्वभाव की समझ और अनुभूति बौद्ध साधना का अंतिम लक्ष्य है। यह निर्वाण की स्थिति है, जहाँ सभी दुःख और भ्रम समाप्त हो जाते हैं। हालांकि, यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि परिनिष्पन्न स्वभाव कोई दूर की या अलग चीज नहीं है। यह वास्तव में हमारे अनुभव का सच्चा स्वरूप है, जिसे हम अपने भ्रमों और अज्ञान के कारण नहीं देख पाते।

14.6 बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा

निर्वाण बौद्ध धर्म का परम लक्ष्य है। इसका शाब्दिक अर्थ है बुझ जाना या शांत हो जाना। यह दुःख, अज्ञान, और पुनर्जन्म के चक्र से पूर्ण मुक्ति की अवस्था है। निर्वाण को अक्सर नकारात्मक शब्दों में वर्णित किया जाता है – यह वह है जो नहीं है, जैसे अजन्मा, अमर, अशोक (दुःख रहित)। फिर भी, इसे परम शांति, मुक्ति, और ज्ञान की सकारात्मक अवस्था के रूप में भी देखा जाता है। बौद्ध परंपरा में निर्वाण के विभिन्न प्रकार माने जाते हैं, जैसे सोपाधिशेष निर्वाण (जीवन में प्राप्त) और निरुपाधिशेष निर्वाण (मृत्यु के बाद)। निर्वाण प्राप्ति का मार्ग अष्टांगिक मार्ग है, जो सम्यक दृष्टि से लेकर सम्यक समाधि तक जाता है। यह मार्ग शील (नैतिकता), समाधि (ध्यान), और प्रज्ञा (ज्ञान) के विकास पर आधारित है। निर्वाण की अवधारणा बौद्ध दर्शन के केंद्र में है और यह मानव अस्तित्व के मूल प्रश्नों – दुःख, मृत्यु, और जीवन के अर्थ दृ से जुड़ी है। निर्वाण की प्राप्ति को बौद्ध साधना का चरम लक्ष्य माना जाता है, जो व्यक्ति को सांसारिक बंधनों से मुक्त करता है और उसे परम सत्य का साक्षात्कार कराता है। यह अवस्था तृष्णा, द्वेष और मोह के पूर्ण उन्मूलन से प्राप्त होती है। निर्वाण की अवधारणा ने न केवल बौद्ध धर्म को, बल्कि समग्र भारतीय दर्शन और विश्व के आध्यात्मिक चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है। यह मानव जाति के सामने एक ऐसे लक्ष्य को रखती है जो पूर्ण मुक्ति और परम ज्ञान की ओर ले जाता है। विज्ञानवाद में बन्धन को संक्लेश या अशुध्दि और मोक्ष को व्यवदान या विशुध्दि कहा जाता है।

14.6.1 योगाचार विज्ञानवाद में निर्वाण की अवधारणा :

इस दर्शन के अनुसार, सभी अनुभव और घटनाएँ मन की उपज हैं। बाह्य जगत की वास्तविकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए योगाचार दार्शनिक मानते हैं कि केवल चित्त या विज्ञान ही सत्य है। निर्वाण की अवधारणा इस संदर्भ में विशेष महत्व रखती है। योगाचार में निर्वाण का अर्थ है चित्त की पूर्ण शुद्धि और परिवर्तन। यह वह अवस्था है जहाँ मन सभी विकल्पों, विभाजनों और द्वैतों से मुक्त हो जाता है।

निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग आलयविज्ञान के परिवर्तन से होकर गुजरता है। आलयविज्ञान सभी मानसिक बीजों का भंडार है, जो हमारे अनुभवों और धारणाओं को जन्म देता है। जब साधक इस आलयविज्ञान को परिवर्तित कर देता है, तब वह तथता या यथाभूतता की अवस्था को प्राप्त करता है। निर्वाण में द्वैत भ्रम समाप्त हो जाता है। अनुभव करने वाला और अनुभव की वस्तु के बीच का अंतर मिट जाता है। यह अद्वैत की परम अवस्था है, जहाँ साधक शून्यता के सच्चे स्वरूप को समझ लेता है।

योगाचार में निर्वाण केवल एक व्यक्तिगत मोक्ष नहीं है, बल्कि सभी प्राणियों के कल्याण के लिए काम करने की प्रेरणा भी है। बोधिसत्व का आदर्श यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है, जो निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी दूसरों की सहायता के लिए संसार में रहता है।

14.7 त्रिस्वभाव और निर्वाण का संबंध

त्रिस्वभाव और निर्वाण की अवधारणाएँ बौद्ध दर्शन में गहनता से जुड़ी हुई हैं। त्रिस्वभाव वास्तविकता को समझने का एक साधन है, जबकि निर्वाण उस समझ का परिणाम है। परिकल्पित स्वभाव से मुक्ति, जो हमारी भ्रामक धारणाओं का त्याग है, निर्वाण की ओर पहला कदम है। परतंत्र स्वभाव की समझ हमें यह एहसास कराती है कि सभी चीजें परस्पर जुड़ी हैं और अनित्य हैं, जो निर्वाण प्राप्ति के लिए आवश्यक ज्ञान है। अंततः, परिनिष्पन्न स्वभाव की अनुभूति ही निर्वाण है – यह वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति वास्तविकता को उसके यथार्थ रूप में देखता है, बिना किसी आरोपण या भ्रम के। इस प्रकार, त्रिस्वभाव की समझ निर्वाण प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। दोनों अवधारणाएँ एक साथ मिलकर बौद्ध दर्शन का एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, जो वास्तविकता की प्रकृति और मानव मुक्ति के लक्ष्य को समझने में मदद करता है।

14.8 आधुनिक संदर्भ में त्रिस्वभाव और निर्वाण की प्रासंगिकता

यद्यपि त्रिस्वभाव और निर्वाण प्राचीन बौद्ध अवधारणाएँ हैं, वे आज भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में, त्रिस्वभाव की अवधारणा मानसिक प्रक्रियाओं और व्यवहार को समझने में मदद कर सकती है। उदाहरण के लिए, परिकल्पित स्वभाव की समझ नकारात्मक सोच और आत्म–छवि के मुद्दों से निपटने में सहायक हो सकती है। वहीं, परतंत्र स्वभाव की अवधारणा पारस्परिक निर्भरता और पर्यावरणीय चेतना को बढ़ावा दे सकती है। निर्वाण की अवधारणा आधुनिक जीवन में तनाव प्रबंधन और आत्म–साक्षात्कार के लिए एक लक्ष्य प्रदान कर सकती है। माइंडफुलनेस और ध्यान जैसी तकनीकें, जो निर्वाण प्राप्ति के मार्ग से प्रेरित हैं, आज व्यापक रूप से स्वीकृत और प्रयोग की जा रही हैं। इस प्रकार ये प्राचीन अवधारणाएँ आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य, व्यक्तिगत विकास और सामाजिक समझ के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

14.9 निष्कर्ष

त्रिस्वभाव और निर्वाण बौद्ध दर्शन की दो अत्यंत महत्वपूर्ण और गहन अवधारणाएँ हैं। त्रिस्वभाव हमें वास्तविकता के विभिन्न स्तरों को समझने का एक ढांचा प्रदान करता है, जबकि निर्वाण हमें एक ऐसे लक्ष्य की ओर निर्देशित करता है जहाँ सभी दुःखों और भ्रमों से मुक्ति मिलती है। ये दोनों अवधारणाएँ न केवल सैद्धांतिक महत्व रखती हैं, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी अत्यंत उपयोगी हैं। त्रिस्वभाव की समझ हमें अपने विचारों और अनुभवों को अधिक स्पष्टता से देखने में मदद करती है, जबकि निर्वाण का लक्ष्य हमें निरंतर आत्म–सुधार और आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेरित करता है। आधुनिक संदर्भ में ये अवधारणाएँ मानसिक स्वास्थ्य, व्यक्तिगत विकास, और सामाजिक समझ के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। अंत में, त्रिस्वभाव और निर्वाण की समझ न केवल बौद्ध दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि यह हमें जीवन और वास्तविकता के बारे में गहराई से सोचने के लिए भी प्रेरित करती है।

14.10 सारांश

इस इकाई में हमने बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख अवधारणाओं – त्रिस्वभाव और निर्वाण – का विस्तृत अध्ययन किया। हमने देखा कि त्रिस्वभाव वास्तविकता के तीन स्तरों – परिकल्पित, परतंत्र, और परिनिष्पन्न – को दर्शाता है। यह हमें बताता है कि कैसे हम वास्तविकता को गलत समझते हैं, कैसे वह वास्तव में है और कैसे हम उसके सच्चे स्वरूप को समझ सकते हैं। निर्वाण, दूसरी ओर, बौद्ध धर्म का परम लक्ष्य है, जो दुःख और पुनर्जन्म के चक्र से पूर्ण मुक्ति की अवस्था है। हमने इन दोनों अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास, उनके महत्व, और उनके बीच के संबंधों का विश्लेषण किया। साथ ही, हमने देखा कि कैसे ये प्राचीन विचार आधुनिक संदर्भ में भी प्रासंगिक हैं, विशेष रूप से मानसिक स्वास्थ्य और व्यक्तिगत विकास के क्षेत्रों में। इस इकाई का अध्ययन हमें न केवल बौद्ध दर्शन की गहरी समझ प्रदान करता है, बल्कि हमें अपने जीवन और वास्तविकता को एक नए दृष्टिकोण से देखने के लिए भी प्रेरित करता है।

14.11 प्रश्न बोध

1. त्रिस्वभाव की अवधारणा को विस्तार से समझाइए। यह बौद्ध दर्शन में कैसे महत्वपूर्ण है?
2. निर्वाण क्या है? बौद्ध धर्म में इसका क्या महत्व है?
3. त्रिस्वभाव के तीनों प्रकारों की व्याख्या कीजिए और उदाहरण दीजिए।
4. त्रिस्वभाव और निर्वाण के बीच क्या संबंध है? विस्तार से समझाइए।
5. योगाचार दर्शन ने तिरस्वभाव की अवधारणा को कैसे विकसित किया?
6. निर्वाण प्राप्ति का मार्ग क्या है? बौद्ध दर्शन के अनुसार इसके प्रमुख चरण क्या हैं?
7. आधुनिक संदर्भ में त्रिस्वभाव और निर्वाण की प्रासंगिकता पर एक निबंध लिखिए।
8. त्रिस्वभाव की अवधारणा को आधुनिक मनोविज्ञान से कैसे जोड़ा जा सकता है?
9. क्या आप मानते हैं कि निर्वाण की अवधारणा आधुनिक जीवन में व्यावहारिक है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।
10. त्रिस्वभाव और माध्यमिक दर्शन की शून्यता की अवधारणा में क्या समानताएँ और अंतर हैं?

14.12 उपयोगी पुस्तकें

1. शर्मा, चंद्रधर. बौद्ध धर्म दर्शन. मोतीलाल बनारसीदास, 2010.
2. उपाध्याय, बलदेव. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन. शारदा पुस्तक भवन, 2015.
3. त्रिपाठी, रामभद्र. बौद्ध दर्शनरू एक समग्र अध्ययन. वाणी प्रकाशन, 2018.
4. पांडेय, गोविंदचंद्र. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास. हिंदी साहित्य सम्मेलन, 2014.

ROUGH WORK

ROUGH WORK

ROUGH WORK

ROUGH WORK

ROUGH WORK

ROUGH WORK